

उपाध्याय अमर मुनि
वीरायतन, राजगृही

चिन्तन के
झरोखे से

तृतीय खण्ड

चिन्तन के झरोखे से

तृतीय खण्ड

उपाध्याय अमरमुनि

वीरायतन-राजगृह

पुस्तक :
चिन्तन के झरोखे से :
तृतीय खण्ड



लेखक :
उपाध्याय अमरमुनि
प्रकाशक :
तनसुखराज डागा
मन्त्री, वीरायतन
राजगीर-८०३११६
(नालन्दा-बिहार)



अर्थ सहयोग
स्व. धर्मप्रदनी श्रीमती बादाम कुँवर
की पुण्य-स्मृति में
श्री प्रेमचन्दनी लोढ़ा (मंदसौर निवासी)
जयपुर (राज.)
प्रथम संस्करण
शरद - पूर्णिमा
१४ अक्टूबर १९८६



मूल्य : १५ रु.



मुद्रक :
वीरायतन मुद्रणालय
राजगृह

स्वस्ति - वचन

संसार का प्रत्येक प्राणी जीवन जीता ही है। किन्तु, यथार्थ में जिसे जीवन जीना कहते हैं, वह जीवन तो विरले सौभाग्यशाली आत्माओं को ही प्राप्त होता है। सिर्फ शरीर की सीमा तक अवरुद्ध रहना केवल जड़ शरीर का ही जीवन है। उदात्त जीवन वह है, जो चित्त स्वरूप आत्मा की ज्ञान - ज्योति के प्रकाश में जीता है। यह जीवन अपने ही भोगों एवं आकांक्षाओं तक सीमित नहीं रहता, अपितु अन्तरंग आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करता है और वहाँ दया, करुणा, सेवा, सज्जनता एवं शालीनता आदि सद्गुणों के अद्भुत सौरभ से मुरभित होता है।

मूलतः मन्दसौर के वासी अनन्तर जयपुर प्रवासी श्री प्रेमचन्दजी लोढ़ा एवं उनका परिवार उक्त दूसरे प्रकार के जीवन— जीने का अभ्यासी है। मध्यम श्रेणी का परिवार रहा है, लोक-दृष्टि से, किन्तु वह यथार्थ दृष्टि से उत्तम श्रेणी का जीवन है। सहज भाव से आध्यात्मिक - वृत्ति रूप में शालीनता से रहना और सेवा करना, उक्त परिवार का एक श्लाघनीय गुण है। किसी प्रकार की कुटिलता नहीं, आडम्बर नहीं, इधर - उधर प्रचार - प्रसार नहीं, मौन - भाव से सेवा के पथ पर गतिशील रहना ही एक मात्र प्रस्तुत परिवार का लक्ष्य रहा है। यह मेरा परोक्ष नहीं, अपितु प्रत्यक्ष अनुभव है।

श्री लोढ़ाजी की धर्मपत्नी स्व.बादामकुँवर तो साक्षात् सेवा की जीवन्त मूर्ति रही है। बादामकुँवर सही अर्थ में धर्मपत्नित्व की उज्ज्वल प्रतीक रही है। समय पर सामायिक आदि धार्मिक क्रिया-काण्ड सही मनोभाव से करना और फिर पारिवारिक कार्य करते हुए भी सेवा में विना किसी ननु-नच के पति का साथ देना, स्वयं

[तीन]

भी सेवा में तदाकार रहना, उनका अपना सहज-स्वभाव था। उक्त श्रेणी की बहनें भारतीय महिला जगत की शिरोभूषण रूप श्रृंगार हैं। ऐसे परिवार ही धरती पर स्वर्ग का जीवन जीते हैं।

श्री प्रेमचन्दजी धर्मपत्नी को मृत कह कर भूल नहीं गए हैं। उसकी स्मृति में उन्होंने मन्दसौर, वीरायतन में अनेक उदात्त कार्य किए हैं। अपने पितृ भूमि मन्दसौर के चिकित्सालय में श्री बादाम कुँवर की पुण्य - स्मृति में एक वार्ड का निर्माण किया है, वहाँ और भी आगे सेवा की माला में कोई भव्य कार्य करने का संकल्प कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन भी श्री प्रेमचन्दजी ने उन्हीं की पुण्य - स्मृति में किया है। सेवा के क्षेत्र में यह उदात्त विचार एवं ज्ञान की सेवा भी प्रमुख है। पथ पर चलने से पूर्व पथ - दर्शन के लिए नेत्र आवश्यक हैं। सत्पथ पर चलने के लिए तो अन्तर्चक्षुओं का उद्घाटन होना अतीव आवश्यक है। अतः श्री प्रेमचन्दजी का यह सत्साहित्य प्रकाशन का कार्य भी सर्वतो भावेन श्लाघनीय है।

मैंने ये कुछ पंक्तियाँ लिखाई हैं, उसकी पृष्ठभूमि में 'गुणिषु प्रमोदं' की मात्र उदात्त भावना ही है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का एक अविस्मरणीय विचार सूत्र है—

भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः

—भव्य जनों के प्रति उनके सत्कर्मों के प्रति प्रमोद का भाव रखना ही चाहिए। यही प्रमोद - भाव है, जो जनता में सद्गुणों के प्रचार का एक दिव्य हेतु है।

आशा है, सटस्थ चिन्तन - वृत्ति के जिज्ञासु प्रस्तुत पुस्तक से अवश्य ही वैचारिक लाभ उठाएँगे और एक अच्छे भाव से किए गए कर्म को स्मृति में रखते हुए स्वयं भी यथाप्रसंग अच्छे कार्यों का पथ प्रशस्त करेंगे।

—उपाध्याय अमरमुनि

[चार]

मनोगत

परमपूज्य प्रज्ञामहर्षि राष्ट्रसन्त उपाध्याय कविश्री अमरमुनिजी वीरायतन के प्रेरणा स्रोत हैं। आपने जैन, बौद्ध तथा वैदिक-दर्शन-साहित्य का तौलनिक गहन अध्ययन, मनन-चिन्तन किया है। आप अनेकान्त-दर्शन के तत्त्व-निष्ठ उपासक हैं। आपका चिन्तन सत्या-नुलक्षी पूर्वाग्रह मुक्त तटस्थ वृत्ति का है। आपकी विचार-धारा वैज्ञानिक है। आपने कहा है—“परिवर्तत अनिवार्य है। नव सृजन की प्रक्रिया का परिवर्तन अनिवार्य अंग है। पाप-पुण्य कर्म में नहीं, भाव में है। महत्ता शब्द की नहीं, भाव की है।”

गत अनेक वर्षों से ‘श्री अमर भारती’ में “चिन्तन के झरोखे से”—इस शीर्षक से अनेक विध विषयों पर आपने अत्यन्त मननीय और विचार प्रवर्तक लेखन किया है।

आधुनिक विचारवन्त और खासकर युवापीढ़ी इन प्रज्ञा-निष्ठ देश-काल-भाव के परिप्रेक्ष्य में निर्भीकता से सहज भाव से, स्पष्टता से लिखे हुए विचारों से इतनी आकर्षित और प्रभावित है, कि इन लेखों का संकलन प्रकाशित करने का आग्रह अनेक लोगों द्वारा काफी समय से हो रहा है। इसलिए इस संकलन के प्रथम और द्वितीय खण्ड एक साथ प्रकाशित करने के पश्चात् प्रस्तुत तृतीय खण्ड को प्रकाशित करने का वीरायतन ने तय किया।

मेरे मित्र श्री त्र्यं. शि. उर्फ बालासाहेब भारदे महाराष्ट्र शासन के ५ वर्ष तक मन्त्री रहे और दस वर्ष तक विधान सभा के अध्यक्ष (स्पीकर) रहे हैं। वे महाराष्ट्र के प्रखर अध्यात्मवादी चिंतक और गांधी विचार के निस्सीम अनुयायी हैं। आपने इस प्रकाशन के लिए ‘आमुख’ बहुत कम समय में अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकालकर लिखने का अनुग्रह स्वीकार किया, इसलिए वीरायतन की ओर से मैं उनका आभारी हूँ।

हमें आशा है यह प्रकाशन समाज में विचार क्रान्ति करने में मददगार होगा।

—**नवलमल फिरोदिया**
अध्यक्ष, वीरायतन

[पाँच]

आमुख

अपनी "श्री अमर भारती" मासिक पत्रिका द्वारा जैन धर्मीय आधुनिक विचारक महासन्त अमरमुनिजी अपनी अलौकिक कलम द्वारा, जो दिव्य समाज प्रबोधन कर रहे हैं, उसी शृंखला की संहिता इस ग्रन्थ में पाई जाती है। मर्त्य मानव को अमरत्व के संस्कार इस महान् ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। हर व्यक्ति को ज्ञात है कि उसे मरना है, फिर भी अमर होने की आकांक्षा रखता है। यदि मृत्यु वस्तुस्थिति है, तो मृत्यु का आनागमन उसकी मनःस्थिति है। मृत्यु अटल है, तो अमरण की भावना भी प्रबल है। इन दोनों की एकत्रित विचार-धारा ही आत्म-ज्ञान की, धर्म की गंगोत्री है। सुख-शान्ति की भावना, समाज की धारणा तथा मृत्युञ्जय प्रेरणा, इस त्रिवेणी से स्रालंकृत मानव - धर्म ही सर्व धर्मों का निचोड़ है, रहस्य है। चिर - शान्ति के लिए अनासक्ति, समाज हितार्थ सेवा-शक्ति एवं आत्म - शरण, जीवन - मुक्ति के संगम में ही मानव-जीवन की सफलता है। यही सर्व धर्मीय अध्यात्म-ज्ञान का सार है। इसी सार का आरोपण संसारी जनों की मनो - बुद्धि में करना एवं उसी के द्वारा ही आत्म - कल्याण एवं विश्व - कल्याण की सिद्धि प्ररूपित करने धर्म प्रवर्तक सन्त - महन्त इस धरातल पर अवतरित हुए हैं। इसी दिव्य आर्ष परम्परा की दिव्य विभूति श्री अमरमुनिजी हमारे सम्मुख प्रस्तुत हैं। हमारा अहोभाग्य है, कि इसी आत्म - विश्व कल्याणकारी आत्म - धर्म का यथार्थ रहस्य प्रस्थापित करने का समाज प्रबोधन कार्य वे गत सात दशकों से कर रहे हैं। जिस प्रकार भगवद् गीता श्री कृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति है, उसी प्रकार श्री अमर भारती श्री अमरमुनिजी की कला-कृति है—इस कथन में मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं है। श्री अमरमुनिजी जो जैन - धर्म के सन्त के नाते विख्यात हैं, फिर भी इस ग्रन्थ में हमें उनका जीवन - दर्शन प्रतीत होता है, कि तथा-कथित विभिन्न धर्म, धर्म न हो कर आध्यात्मिक मानवतावादी

[छः]

आत्म - धर्म अथवा मानव - धर्म ही एक मात्र धर्म है और ये सभी धर्म उसी के उपधर्म यानी सम्प्रदाय हैं। वर्तमान समय में ये तथाकथित धर्म, नीतिधर्म के ऐवज में जाति - धर्म पर ही जोर देते हैं। धर्म के नाम से असहिष्णुता, संकुचितता, अभिनिवेश, परविद्वेष व तज्जन्य जातीय तनावों से समाज - जीवन अशान्त एवं उध्वस्त होता जा रहा है। इस अवस्था में साम्प्रदायिकता के वशीभूत न होते हुए उस पर कठोर प्रहार कर यथार्थ आत्म - धर्म का निर्भीक पुरस्कार कर धर्मानुयायियों में धर्म - परिवर्तन रूप युग - धर्म प्रसृत कर रहे क्रान्तदर्शी महामुनिजी की यह आधुनिक धर्म - गाथा है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

मुनिश्री फरमाते हैं—हर यात्री का अपना ही एक नया पथ होता है। यह परम सत्य है कि मार्ग बने हुए नहीं होते, बनाने पड़ते हैं....जो चलना जानता है, उसके लिए जहाँ भी कदम पड़ते, है, पथ बन जाता है।.....समाज का गौरव हर किन्हीं पुराने नियमों को पकड़े रहने में नहीं है, अपितु जीवन - विकासकारी नए नियमों के सृजन में है।”

इस पर से मुनिश्री का पुरोगामी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है—
 “सत्य संशोधन याने चिन्तन। पूर्वाग्रह मुक्त चिन्तन ही सत्य-चिन्तन है।” यही है मुनिश्री के आत्म-चिन्तन का सार और उसी का आविष्कार है यह विचार - गाथा— “दुनिया भर का शाश्वत सत्य एक ही होता है। उसकी देश - काल - स्थिति की सीमा नहीं होती। परन्तु, लोक व्यवहार में उतरने वाला सत्य सापेक्ष होता है, उसमें देश - काल, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। रूढ़ियाँ, रीति-रिवाज मूलतः धर्म नहीं हैं। उन्हें धर्म समझना बड़ी भारी भूल है। कारण कि वे समाज के सामयिक रूप हैं। धर्म न तो प्राचीनता में है और न अर्वाचीनता में, वह तो समीचीनता में है।” यही है मुनिश्री का प्रतिपादन।

“भेदे अभेदः” मानव - संस्कृति की ओर खासकर भारतीय-संस्कृति की विशेषता है। इस सत्य की प्रतीति करनी ही, तो मेरा कथन सत्य है, दूसरों का असत्य—यह दावा अर्थात् अभिमान त्यागना होगा। हर एक को अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य का

अनुभव होता है। सिर्फ हम ही सत्य के ठेकेदार नहीं हैं, यह समझना होगा। औरों के सत्य प्रत्यय का अनादर न हो, बल्कि आदर किया जाए—यही है, मानवीय सुसंवाद का रहस्य। मतभेद होने पर भी मनभेद न हो, वाद हो भी तो संवाद हो, मतभिन्नता होने पर भी संगति हो, इसी सहिष्णुता, समन्वय एवं सहजीवन की दीक्षा मानव-समाज को देने का महान् कार्य भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट अनेकान्त - दर्शन ने सुलभ किया है। अनेकान्त की दिव्य ध्वनि है—मेरा कथन ही सत्य मात्र नहीं है, सत्य अनन्त है। और वह जहाँ भी कहीं है, जिस किसी भी रूप में है, जिस किस के भी पास है—वह मेरा है, मेरा है। सत्य मेरे लिए समर्पित नहीं है, अपितु मैं सत्य के लिए समर्पित हूँ।” मुनिश्री के इस चिन्तन पर लोग यदि ध्यान देंगे, तो समाज - जीवन में शान्ति - प्रेम के वातावरण का निर्माण करना सहज होगा।

मुनिश्री की पाप-पुण्य की मीमांसा में भी द्रष्टापन की झलक है—“कर्म का कर्ता नरक में और उस कर्म के फल का भोक्ता स्वर्ग में, कितनी विचित्र बौद्धिक विडम्बना है? रोटी कमाने वाला, बनाने - पकानेवाला पापी है और धर्म के नाम पर मुफ्त में प्राप्त कर खाने वाला पुण्यात्मा है, धर्मात्मा है।.....कर्म और धर्म के बीच में विभाजन की दीवार हमने ऐसी खड़ी कर दी कि कर्म धर्म से शून्य हो गया और धर्म कर्म से। हर कर्म धर्म है, यदि उसमें जन-हित का व्यापक आयाम है, विवेक दृष्टि है।” एकाध दुर्घटना हुई अर्थात् अनपेक्षित घटना घटी, तो हम कहते हैं—यह कर्म-धर्म संयोग से हुआ। कर्म व धर्म का संयोग यानी दुर्घटना ही है, ऐसा पारम्परिक विचार ही इस शब्द - योजना से ध्वनित होता है। यह बहुधा पाया जाता है कि धर्म करने के दावेदार मात्र कर्तव्य नहीं करते। मुनिजी की दृष्टि में धर्म से युक्त कर्म ही जीवित शक्ति है—“हमें जीवित एवं सप्राण धर्म की आवश्यकता है, प्राणहीन मृत धर्म की नहीं।” यह है उनका इशारा - इंगित। वे स्पष्ट रूप से बताते हैं कि कइयों का धर्म श्रवण मात्र के लिए है, वह निरीक्षण के लिए नहीं है, परखने के लिए कतई नहीं है। ‘पण्णा समिक्खए धम्मं,— प्रज्ञा द्वारा धर्म का समीक्षण करना चाहिए—यह भगवान् महावीर का उपदेश पुनः कार्यान्वित हो यही

[आठ]

आन्तरिक अभिलाषा है। उनका आग्रह है कि धर्म की ओर केवल अन्ध-श्रद्धा न रखते हुए किसी भी क्रिया का आचरण करते समय वह युक्ति संगत एवं तर्कानुकूल हो, इस बारे में सोचना आवश्यक है। उससे तुम्हारा एवं समाज का हित हो, यह विश्वास हो जाना चाहिए। समाज निरपेक्ष वैयक्तिक साधना आत्म-साधना नहीं है। सभी के भीतर निवास किए हुए जीवात्मा को ध्यान में रखकर आत्म-हित एवं समाज-हित—दोनों का सुयोग्य समन्वय ही धर्म-रहस्य है। यही भूमिका इस ग्रन्थ में द्रष्टापन, सम्पर्कता एवं आधुनिक स्थिति के समालोचन से प्रकट की गई है। यही इस मुनि-दर्शन की विशिष्टता है। यही कारण है कि नर-नारी, श्रीमान् गरीब, महाजन-हरिजन जैसे आत्मधर्म विरोधक भेद-भावों पर आघात किया है। पत्नी को देवता का स्थान देने की प्राचीन भारतीय संस्कृति की पार्श्व भूमि पर पत्नी को दासी मानने की विकृति आ गई है। जिस देश में नारी पूजा को देवता की प्रसन्नता माना जाता था, उसी में आज नारी हेय दृष्टि से देखी जाती है। यह धर्म नहीं, अधर्म है, इस प्रकार उद्घोष कर रहा है यह महान् सन्त। “नारी को बाहर में नहीं, अन्दर में देखना होगा।” कितना मार्मिक है यह वचन। भगवान् महावीर आध्यात्मिक सिद्ध जरूर थे, साथ ही वे मानवतावादी समाज-सुधारक भी थे। इस प्रकार का समन्वित उभयान्वयी सम्यक्-दर्शन जैन-धर्मियों एवं साहित्यिकों ने समाज में प्रस्तुत किया ही नहीं—यह उनके दिल में जरूम था।

यह ग्रन्थ इस दिव्य जीवन-दर्शन का प्रभावी आविष्कार है। भगवान् महावीर उभयमुखी जीवन-क्रान्ति के प्रतीक थे। वे मात्र वीतराग ही नहीं, तीर्थंकर भी थे। भीतर से अक्रिय-अनासक्त, और बाहर में सक्रिय क्रान्ति—यह सब होते हुए ही वे मंगलकारी समन्वयवाद के प्रवर्तक थे। अपने इस जीवन-दर्शन का बोध सुयोग्य रीति से मुनिश्री ने करवाया ही है, साथ ही उस भूमिका से स्वयं एकरूप होकर आत्मोद्धार एवं जनोद्धार—दोनों के समन्वय का परिणामकारी समाज प्रबोधन भी किया है। “महावीर का उभयमुखी आदर्श अपनाने की आज महती आवश्यकता है। आज कुछ साधक समाज और राष्ट्र-धर्म के नाम पर सर्वथा

निष्क्रिय होते जा रहे हैं। दूसरी ओर विज्ञान तथा क्रान्ति के नाम पर अन्धा तूफान चल रहा है, जिसमें मानवता की जड़ें उखाड़ी जा रही हैं। आवश्यकता है, धर्म और विज्ञान के, अध्यात्म और क्रान्ति के यथोचित समन्वय की। महावीर के इस समन्वयवाद में ही क्रान्ति के बीज छिपे हैं। समय की पुकार है कि उन्हें जल्दी-से-जल्दी अंकुरित किया जाए।” मुनिश्री के इस कथन में उनका जीवन - दर्शन, इस वाङ्मय का प्रयोजन एवं युग-धर्म का प्रबोधन, इस त्रिवेणी संगम का जनता को अनुभव होगा। इससे बढ़ कर इस ग्रन्थ का श्रेष्ठत्व कौन बता सकेगा ?

मुनिश्री का यह उद्बोधक विचार धन पढ़ते समय स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, सन्त विनोबा इन विभूतियों की साहित्यिक कृतियों का स्मरण हो आता है। मुनिश्री के ये निबन्ध विषय की दृष्टि से चुनिन्दा, रसास्वाद की दृष्टि से रोचक, मार्ग-दर्शन की दृष्टि से प्रेरक, साधक की दृष्टि से जीवन - मोचक तथा समाज सेवकों की दृष्टि से क्रान्तिकारक हैं। अनुभूति एवं सहानुभूति, भाग्य एवं वैराग्य, स्वार्थ एवं परमार्थ, सद्गति एवं प्रगति, शान एवं ज्ञान तथा व्यक्ति एवं समष्टि के समन्वय पर जोर देने वाले भारतीय अवतारी पुरुषों, सन्त-मुनियों के जीवन - दर्शन की परम्परा इस ग्रन्थ के हर पृष्ठ में दिग्दर्शित होती है। साहित्यिक सुरस प्रासादिकता, विचारों की प्रगल्भता, द्रष्टा की प्रतिभा, आत्मरूप की तन्मयता, दीन - हीनों के प्रति वत्सलता—एक ही शब्द में कहना हो, तो आध्यात्मिक मानवता की प्रचीति इस ग्रन्थ में सम्यक् रूप से होगी।

व्रती होते हुए भी व्रतों का स्तोम नहीं है, मुनि होते हुए भी समाज विमुखता नहीं है, एक सम्प्रदाय के उपाध्याय होते हुए भी साम्प्रदायिकता नहीं है, मानवीय जीवन मूल्यों के सनातन धर्म का आचरण करते हुए वर्तमान युग धर्म की विस्मृति नहीं है, धर्म के तत्त्व का आग्रह रखते हुए भी अन्ध रूढ़ियों का पूर्वाग्रह नहीं है, साधु - परम्परा के आचार का अवलम्ब करते हुए भी काल बाह्य उपचार नहीं है, जैन - धर्म के प्रवक्ता होते हुए भी संकुचित अभिनिवेश का लवलेश नहीं है, सर्वोपरि आत्म - शान्ति की साधना में संलग्न रहते हुए भी समाज क्रान्ति का अनादर नहीं है। यह है

श्री अमर मुनिजी का दिव्य विभूतित्व । दिव्यता एवं मानवता का संगम ही साधुता है । यही साधुता ज्ञान एवं ध्यान द्वारा शिष्य साधकों को प्रतीत होती ही है, बल्कि सामान्य पाठकों को भी इस साधुता की प्रतीति हर पृष्ठ में प्राप्त होती है । ऐसा है यह अपूर्व ग्रन्थ । जन को सज्जन बनाने में ही संस्कार होते हैं, सज्जन को साधक बनाने का नाम है दीक्षा । ये दोनों बातें आज भी सभी धर्मों में मौजूद है । इन्हीं के कारण व्यक्तिगत भाव शक्ति जिस प्रकार वृद्धिगत होती है, उसी प्रकार सामाजिक प्रभाव शक्ति की अनुभूति होती है । तब मानव - धर्म किस प्रकार प्रभावित होगा ? इसलिए साधक सेवक बने यही सन्त - मुनियों का उपदेश है । परन्तु, वर्तमान समय में उतने मात्र से काम नहीं चलेगा । अतः साधक सेवकों को क्रान्तिकारी बनना होगा । यही आध्यात्मिक मानवता का आज का युग धर्म है । इसी युग - धर्म को पुकार-ललकार ही श्री अमर मुनिजी की अमर भारती है । किसी भी धर्मानुयायी, किसी भी वृत्ति के सत्प्रवृत्त पाठक को अमरमुनिजी की यह वाणी एक साथ ही भाविक, विकित्सक, साधक एवं सेवक बना पाएगी, ऐसी क्षमता इस ग्रन्थ की है ।

त्र्यं. शि. भारदे
पुणे (महाराष्ट्र)

विषयानुक्रम

१. धर्म और परम्पराएँ	१
२. धर्म की आधार - भूमि: ऋजुता	७
३. दीक्षा का अर्थ - बोध	१४
४. श्रमण - परंपरा की सामायिक साधना	२३
५. समण शब्द का निर्वचन	३०
६. पुण्य और धर्म की गुत्थी	३६
७. सम्यक्त्व का यथार्थ दर्शन	४६
८. संथारा विशुद्ध अध्यात्म साधना है	५६
९. डोली, यदि सवारी नहीं, तो फिर क्या है वह ?	७१
१०. ये नरक - लोक के यात्री	८०
११. स्वर्ग - लोक के ये यात्री	८७
१२. सशक्त श्रम में ही श्री का निवास है	९४
१३. विजय पर्व	१००
१४. भारतीय-संस्कृति में प्रशास्ता की : कर्तव्य भूमिका	१०४
१५. संकल्पोहि गरियान	११४
१६. पहले अपने को परखो तो सही	११८
१७. महाभारत - युग की दो वीर माताएँ	१२५
१८. तीर्थकरों के कल्याणक : एक समीक्षा	१३३
१९. भगवान् महावीर : महावीर क्यों है ?	१४०



[बारह]

धर्म शब्द हमें अत्यन्त प्रिय लगता है, और लगना भी चाहिए । दुनिया के कोने - कोने में अपनी - अपनी पक्ष परंपरा के अनुसार जनता धर्म शब्द से पहले परिचित होती है, और दूसरी चीजों से प्रायः बाद में । होश सम्भालते ही हमारे कानों में धर्म शब्द स्थान ग्रहण कर लेता है । इस शब्द से हम ज्यादा परिचित हैं, इबास से भी ज्यादा । परन्तु, हम धर्म के जितने निकट परिचित हैं, उतनी ही इसमें भूलें आ गई हैं । कभी - कभी ऐसा होता है—हम दूर की चीजों पर जल्दी नजर डाल देते हैं, पर पास की चीजों को देखने में असमर्थ रहते हैं । आँखें दूर - दूर की चीजें तो देख लेती हैं, पर नजदीक का, अपनी आँखों पर लगा सुरमा, नहीं देख पातीं । यही हाल धर्म का है । धर्म की बात सुनते हुए कितना समय बीत गया है ? परन्तु हम उसे शुद्ध रूप में, निज गुण के रूप में देखना भूल गए हैं, और धर्म के नाम पर कुछ दूसरी बाह्य चीजें पकड़ ली हैं । और जब इन बाह्य बातों में थोड़ा - सा परिवर्तन या रद्दी-बदल करने की आवाज उठती है, तो हल्ला मच जाता है, मानो हमारा धर्म नष्ट हुआ जा रहा हो । ये बाह्य चीजें एक फोड़े की तरह हो गई हैं । एक बच्चे के हाथ में जब जहरीला फोड़ा हो जाता है, और उससे सारा हाथ सूज जाता है, डाक्टर जब उसे चीरने लगता है, तो बच्चा चिल्लाता है । इसी तरह धर्म के प्रचलित रूपों के अंग में कुछ फोड़े हो गए हैं, जिन्हें विचारक और क्रांतिकारी लोग चीरने के लिए अपने चिन्तन का प्रयोग करते हैं, तो समाज में हल - चल - सी मच जाती है । हम जब धर्म के सम्बन्ध में कुछ सोचते हैं, तो अपने आपको बीना पाते हैं । धर्म की तो महान् ऊँचाइयाँ हैं । उन अनन्त - अनन्त ऊँचाइयों को केवल बाहरी

साधनों से योंही पकड़ नहीं सकते। आज की परिस्थितियों में धर्म को हमने एक तंग गली में डाल रक्खा है, जिसमें कूड़ा - करकट जमा हो रहा है। हमने सम्यक्-दर्शन - सम्यक्-दृष्टि की परिभाषाएँ भी मनमानी बना ली हैं। अगर किसी ने अपनी निर्जीव परम्परा को कपड़े पर पड़ी हुई धूल की तरह झाड़ दी, तो समझ लिया जाता है—इसकी समकित भाग गई है। उसे मिथ्यादृष्टि का फतवा बहुत जल्दी दे दिया जाता है। इस प्रकार का धर्म हो रहा है कि जरा - सा भी स्पर्श कर लिया कि वह गिरा। यह क्या स्थिति है, समझ में नहीं आती? जो धर्म दुनिया को आपसी भगड़ों से बचाने और शान्ति देने के लिए है, वहीं थोड़ी-सी देर में हवा की तरह उड़ जाता हो, तो फिर धर्म किसे कहें ?

धर्म की व्याख्या :

धर्म की परिभाषा बताते हुए हमारे महान् आचार्यों ने कहा था—

“दुर्गती प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः।”

धर्म वही है, जो दुर्गति में पड़ती हुई आत्मा को उठाए। धर्म वही है, जो पतन के रास्ते पर जाते हुए को बचाए। गिरना संसार है और उठना मोक्ष है। जितने - जितने हम क्रोध, मान, माया, लोभ के अधीन होते हैं, उतने - उतने गिरते जाते हैं। जितने-जितने उक्त विकारों से मुक्त होते हैं, उतने-उतने ऊपर उठते जाते हैं। तात्पर्य यह है, कि विकारों के गड्ढे में गिरना पाप है, और उससे ऊपर उठना धर्म। अतः जिसके द्वारा हम सामाजिक, राष्ट्रिय और सांस्कृतिक दृष्टि से ऊपर उठें, वह धर्म है। धर्म और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन तो वह है, जो धर्म के सहारे स्वयं भी उठे और साथ में समाज और राष्ट्र को भी ऊँचा उठाए। हम अपने जीवन को धर्म के द्वारा ऊँचा उठाएँ। विकृत रूढ़ियों, रीति - रिवाजों और पंथों द्वारा आत्मा कभी ऊँचा नहीं उठता है।

धर्म और पंथ :

धर्म और पंथ ये दो चीजें हैं। धर्म कुछ और होता है, और सम्प्रदाय या पन्थ कुछ और। पन्थ में धर्म का कभी कुछ अंश रह सकता है, परन्तु पन्थ में धर्म सदा हो ही, ऐसा नहीं होता। अतः

प्रचलित रीति - रिवाजों और परम्पराओं को ही धर्म मानकर चलना, ठीक नहीं है। परम्पराएँ तो बदलती रहती हैं। एक तीर्थकर की परम्परा दूसरे तीर्थकर से भिन्न होती है। अगर ऐसा न माना जाए, तो भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा में मेल कैसे बैठेगा ? पार्श्वनाथ को परम्परा भिक्षु के लिए रंगीन वस्त्र लेने का निषेध नहीं करती, जबकि महावीर की परम्परा रंगीन वस्त्रों का निषेध करती है, मात्र श्वेत वस्त्रों का ही विधान करती है। एक परम्परा स्थिरवास को ठीक समझती है, तो दूसरी नहीं। श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा कहती है—प्रति दिन सुबह-शाम प्रतिक्रमण करना चाहिए, जबकि भगवान् पार्श्वनाथ-परम्परा कहती है कोई जरूरत नहीं है, रोज इस प्रकार प्रतिक्रमण करने की। जिस क्षण दोष लगे, तभी प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए। पार्श्व परम्परा वर्षावास (चौमास) के नियम को स्वीकार नहीं करती, जबकि महावीर परम्परा उसे दृढ़ता से स्वीकार करती है। मैंने एक दिन कहा था—तीर्थकरों की परम्परा में भी शासन - भेद होता है। शासन का अर्थ है—शिक्षा। तात्पर्य यह है, कि तीर्थकरों की शिक्षाएँ भी परस्पर भिन्न होती हैं। ऐसा क्यों होता है ? तीर्थकर देश-काल को देखकर शिक्षा में परिवर्तन कर देते हैं। जो यह समझते हैं कि तीर्थकरों का शासन अनादि-अनन्त काल तक हमेशा एक रूप में ही रहता है, उनसे बढ़कर कोई अज्ञानी नहीं। आजकल तो थोड़ा-सा भी परिवर्तन होते ही आप लोग बौखला उठते हैं, जैसे कि आप समझते हैं, हमारा सर्वस्व लुट रहा है।

सत्य और समर्पण :

भगवान् महावीर के पास पार्श्व परम्परा और अन्य परम्पराओं के कई साधक ऐसे आए थे, जिन्होंने पहले पहल उन्हें वन्दन नहीं किया। और, उन के केवलज्ञान की परीक्षा के लिए प्रश्नों की झड़ी लगा दी। जब तक उनकी समझ में नहीं आया, तब तक वे संघ में प्रविष्ट नहीं हुए। और जब वे समझे, तो उन्होंने संघ में प्रविष्ट होकर भगवान् को आत्म - समर्पण कर दिया। ऐसा नहीं हुआ कि भगवान् को केवलज्ञान होते ही सब विरोध सहसा शान्त हो गए। पन्थ और सम्प्रदायवादी लोग अपना आग्रह छोड़ते नहीं थे। जो ऐसा समझते हैं, कि भगवान् को केवलज्ञान होते ही उनके

धर्म और परम्पराएँ :

पास आने वाले सभी लोग सहसा समझ जाते थे, और उनके अनुयायी बन जाते थे, उनसे बढ़कर अज्ञता किसमें हो सकती है ? परम्पराओं के बदलने पर बड़ा संघर्ष होता है, किन्तु महावीर ने परम्पराओं को बदला। उनकी दृष्टि में पंथ और धर्म अलग-अलग चीजें हैं। पन्थ शरीर है और धर्म है, उसकी आत्मा। शरीर अलग है, आत्मा अलग है। विषाक्त फोड़ा हो जाने पर शरीर के अंग को तो काटा जाता है, पर आत्मा को नहीं। पैर में फोड़ा हो जाने पर कभी - कभी पैर कटवाना पड़ता है। किस लिए ? आत्म-रक्षा के लिए। अगर उस समय पैर न काटा जाए, तो वह और अधिक सड़ जाएगा। उसमें कीड़े पड़ जाएँगे। यहाँ तक कि सारा शरीर ही सड़ - गल जाएगा। और, इसका आखिर यह परिणाम होगा कि शरीरधारी कराहता हुआ अशान्तिवश अपनी आत्मा को दुर्गति में ले डूबेगा। अतः शरीर को तब - तक रक्षा को जाती है, जब - तक आत्मा की उन्नति हो, धर्म एवं कर्तव्य का पालन उसके द्वारा होता रहता हो। यही बात परम्परा के विषय में है। यदि धर्म के प्रति परम्पराएँ फोड़े का रूप ले लेती हैं, तो उन्हें काटना पड़ता है। क्योंकि वे धर्म के शुद्ध रूप को सड़ा देती हैं, विकृत कर देती हैं। यदि वे परम्पराएँ स्वस्थ हों, धर्म को सक्रिय रखती हों, तो उन्हें अवश्य सुरक्षित रखना चाहिए।

तर्क की धार पर :

जैन-धर्म धर्म के क्षेत्र में भी तर्क की कैंची लेकर चलता है। आपने पनवाड़ी को देखा होगा। जिधर से पान गलता देखता है, उधर से पनवाड़ी भट से कैंची लेकर काट देता है। ऐसा करता है तो उसकी पान की डलिया सुरक्षित रहती है। वह गले - सड़े पान को न काटे, तो उसकी सारी - की - सारी डलिया सड़ कर खराब हो जाए। जैन - धर्म भी पनवाड़ी की तरह है। वह भी देखता है कि अमुक परम्परा गल - सड़ गई है, तो उसे कतर देना, काट देना ही ठीक प्रतीत होता है। आज भी यही बात है। हम देखते हैं कि अलग - अलग परम्पराएँ चल रही हैं। उनका खान-पान और रहन - सहन अलग - अलग है, और ऐसा मालूम होता है, जैसे 'नौ कन्नौजिये, तेरह चूल्हे' हों। उन परंपराओं को काटने की बातें चल रही हैं, और यह आवश्यकता महसूस हो रही है, कि

विभिन्न धर्म - संघों एवं धर्म - परम्पराओं का एक आचार्य हो, वह सब साधुओं का नेतृत्व करे। यह क्यों ? इसीलिए कि पुराने अलग-अलग चौके-चूल्हे की परम्परा अब गल - सड़ गई है, उसकी अब ज़रूरत नहीं रही है, पर पुरानी परम्पराओं से चिपके रहने वाले कुछ बुजुर्ग लोग कहते हैं — क्या पहले अलग - अलग परम्पराएँ नहीं थीं ? पहले भी तो आचार्य अलग - अलग होते थे, क्या हमारे पूर्वज मूर्ख थे ? इन सब तर्कों को लेकर फिजूल का हल्ला मचाया करते हैं। पर, वे यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि पहले उनकी उपयोगिता थी, अखिल भारतीय स्तर पर संघ फैला हुआ था, और भाग्य के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक साधु विचरते रहते थे। यातायात के, संचार के साधन भी सुलभ नहीं थे, दूर के समाचार ठीक समय पर मिल नहीं पाते थे। तब एक आचार्य के लिए, उनको संभलना दुष्कर कार्य था। आज स्थिति बदल गई है। आज तो यातायात भी इतना सुगम हो गया है कि, आदमी सुबह यहाँ से वायुयान में बैठकर संध्या को भोजन सुदूर अमरीका तक में कर लेता है। प्रतिदिन सुबह अखबार पढ़ते ही, सारी दुनिया हमारे सामने खड़ी हो जाती है। आज तो किसी भी छोटी-सी घटना की खबर चन्द - मिनिटों में सारे विश्व में फैल जाती है, अतः आज के लिए ये अलग - अलग गच्छ या संप्रदाय आदि की परम्पराएँ उपयोगी नहीं हैं। आज तो सारा संसार एक होने की तैयारी कर रहा है। संसार के राष्ट्र अपना एक विश्व - संघ बनाना चाहते हैं, पर हमारे कुछ लोग अपनी विभिन्न असामयिक एवं क्षुद्र परम्पराओं को सुरक्षित रखने के लिए हाथ-पैर मार रहे हैं। आज परम्पराओं ने मोह एवं मूर्खी का रूप ले लिया है। हमारी वृत्ति यह हो रही है कि, जो हमारा है वही अच्छा है और दूसरा सब बुरा है। इस साम्प्रदायिक दुष्वृत्ति के कारण वे अपने सम्प्रदाय की गलतियों को भी दबाने और छुपाने की कोशिश करते हैं। मैं ऐसे साम्प्रदायिक वृत्ति वाले हर आदमी को चुनौती देकर कह सकता हूँ, कि वे अपने सीने पर हाथ रखकर देखें, कि उन्होंने अपने सम्प्रदाय की गन्दगी को कितने फूल चढ़ाए हैं ? समय आने पर इनकी पोलें खुले बिना न रहेंगी। आज के युग में जागरण की तीव्र लहर आ रही है। अतः ये बातें अधिक देर चलनेवाली नहीं

धर्म और परम्पराएँ :

हैं। अगर हमने धर्म के नाम पर चलने वाली इन गलत परम्पराओं को सहारा दिया, तो हम क्षीण हो जाएँगे, गल जाएँगे। हम आगे बढ़ती हुई दुनिया के सामने टिक नहीं सकेंगे। आज आवश्यकता है एक नेतृत्व की। मात्र नेतृत्व की ही नहीं, देश - कालानुसारी प्रबुद्ध नेतृत्व की। ऐसा प्रबुद्ध नेतृत्व, जो परम्पराएँ आज के युग में उचित एवं उपयोगी हों उनको दृढ़ता से सुरक्षित रख सके, और जो अनुचित एवं अनुपयोगी हों, उन्हें दृढ़ता के साथ काट कर दूर फेंक सके। इतना ही नहीं, भविष्य के लिए उचित एवं उपयोगी परम्पराओं का सन्देश भी दे सके।

जनवरी १९७३

मनुष्य के पास मस्तिष्क है, विचार है, बुद्धि है और है अपना स्वतन्त्र चिन्तन। पीछे से चली आ रही हर परम्परा को वह आँख बन्द करके स्वीकारता ही चले, यह उसके स्वतन्त्र चिन्तन एवं बुद्धि का अपमान है। हमारे लिए यह आवश्यक नहीं, कि हम पुरानी पीढ़ी का चश्मा लगाएँ - ही - लगाएँ। हम अपनी दृष्टि से देखें—क्या सही है और क्या गलत है ?

साथ ही यह भी ध्यान रखिए कि विना किसी नए सिद्धान्त - स्थापना की दृष्टि के कोरा अस्वीकार पलायन है। पलायनवादी के पास कुछ कर पाने या कुछ नया देने की क्षमता नहीं होती। इसलिए मानव अपनी बुद्धि एवं स्वतन्त्र चिन्तन का प्रयोग करे, नए सिद्धान्त की स्थापना की दृष्टि को ध्यान में रखकर। नए के व्यामोह में सब-कुछ नकारता ही न चला जाए।

२: धर्म की आधार भूमि : ऋजुता

यमुना तट पर कदम्ब की शीतल छाया में श्रीकृष्ण बैठे वंशी बजा रहे थे। गोपियाँ रूठी हुई-सी आई और बोली—“श्याम, अब तो हम तुम्हें प्यारी नहीं लगतीं। तुम इस वंशी से प्यार करने लगे हो, जब देखो तब यही तुम्हारे मुँह-ओठों पर लगी रहती है।”

श्रीकृष्ण मीठी हँसी के साथ मुस्करा कर बोले—“हाँ, सच-मुच ही यह मुझे बहुत प्यारी है।”

“आखिर कौन-सी बात है इसमें, जो हम में नहीं है”—ईर्ष्या से जलती हुई गोपियों ने अलहड़ भाव से कहा।

“इस वंशी की एक बात मुझे बहुत प्रिय लगी है”—श्रीकृष्ण ने गोपियों के आरक्त चेहरों को देख कर कहा।

“क्या ?”

“यह बात कि वह सरल है, सीधी है, इसमें कहीं भी कोई गाँठ नहीं है। जो चीज सीधी-सरल होती है, जिसके अन्दर कहीं कोई गाँठ नहीं होती, वह मुझे बहुत प्रिय लगती है।” श्रीकृष्ण के उत्तर पर गोपियाँ मौन भाव से अपने आप को टटोलने लग गईं—कहीं हमारे मन में तो कोई गाँठ नहीं है।

श्रीकृष्ण को सरलता प्रिय थी। कृष्ण भारतीय - संस्कृति में भगवान् का रूप है और इसका अर्थ है—“भगवान् को सरलता प्रिय है। ऋजुता, निर्ग्रन्थता (गाँठ रहितता) से भगवान् भी प्यार करते हैं।”

मैं देखता हूँ, ‘अन्न’ जिसे प्राण कहा गया है—“अन्नं वै प्राणाः”, और जो सृष्टि की समस्त ऊर्जा का केन्द्र है, उसे पैदा करने के

लिए भूमि - पुत्र किसान दिन-रात कठोर श्रम करके ऊँची-नीची भूमि को समतल कर रहा है, हल चलाकर उसके गड्ढे पाट रहा है, मिट्टी की गांठें एवं ढेले तोड़ - तोड़ कर उसे साफ और सरल बनाते जा रहा है। उससे पूछे कोई—“इतनी मेहनत क्यों कर रहे हो ? पृथ्वी तो सर्वरसा है, कहीं भी बीज डाल दो, अंकुर बनकर निकल आएगा, फिर हल चलाना, भूमि को सपाट बनाना, गड्ढे भरना और कंकड़ - ढेले तोड़ना, यह सब क्यों कर रहे हो ?” तो चतुर किसान उसकी अज्ञता पर हँसेगा— “तू क्या जाने अन्न पैदा करना ? भूमि जब तक सरल-सपाट नहीं होगी, तो उसमें अन्न कैसे पैदा होगा ? कैसे फसल लह - लहाएगी ?”

अतः जो जीवन वंशी की तरह सरल होगा, ग्रन्थिरहित होगा, वही भगवान् को प्रिय होगा। जो जीवन खेती के योग्य भूमि की तरह साफ समतल होगा, वह सद्गुणों की फसल पैदा कर सकेगा। भूमि में गड्ढे, भाड़ भंखाड़ होने से खेती के शत्रु एवं हिंसक जीवों को आश्रय मिलता है। जीवन में भी जहाँ दंभ के गड्ढे होते हैं, कपट एवं कुटिलता के भाड़ - भंखाड़ होते हैं, वहाँ दुर्गुणों को आश्रय मिलता है, बुराइयाँ पनपती हैं, और वे सद्गुणों की फसल को निगलती जाती हैं। जीवन के खेत में सद्गुणों की अच्छी फसल उगाना हो, तो दंभ, कुटिलता एवं मायाचार के भाड़ - भंखाड़, उखाड़ कर फँकने ही होंगे।

‘माया’ शब्द का विश्लेषण करते हुए एक धर्माचार्य ने अर्थ-योजना की है। वह कहता है— माया शब्द पुकार के कह रहा है “म-आयाः अर्थात् मेरे पास मत आओ। मेरे पास सब बुराइयाँ, सब दुर्गुण भरे पड़े हैं। यदि इधर आओगे तो ये बुराइयाँ तुम से लिपट जाएँगी।”

दुर्गुणों का मूल : माया :

गहराई से देखा जाए, तो हर दुर्गुण के मूल में ‘माया’ रही हुई है। संसार में जितनी भी हिंसा होती है, हत्याएँ होती हैं, राजनैतिक और धार्मिक लड़ाइयाँ होती हैं, उनके मूल में यही माया, दंभ और कुटिलता है। असत्य, धोखा, छल, फरेब, बिश्वास-घात, आजकल की कूटनीति, दल-बदल वृत्ति, और दलीय संघर्ष

ये सब क्या हैं ? इसी माया के विविध रूप हैं । दंभ-रूप रावण के अलग-अलग चेहरे हैं । इसी प्रकार चोरी, व्यभिचार और परिग्रह के मूल में भी तो क्या है ? यही दंभ, यही माया ! जिसका हृदय सरल है, मन सरल है, वचन सरल है और कर्म भी सरल है—वहाँ बुराइयों को छिपाने की जगह ही कहाँ है ? सरल-सपाट भूमि पर पानी डालिए तो वह सीधा बहता चला जाएगा । कहीं कोई रुकावट नहीं आएगी । किन्तु, यदि भूमि विषम होगी, ऊँची - नीची होगी, गड्ढे और भाड़-भंखाड़ बीच में होंगे तो पानी रुक जाएगा, अनेकानेक जहरीले सांपों एवं अन्य जन्तुओं को भी छुपाने की जगह मिल जाएगी । मानव के मन का खेत भी समतल होना चाहिए । उसमें किसी तरह की छुपावट नहीं रहनी चाहिए । दंभ की भाड़ियाँ नहीं रहनी चाहिए । जलाँ छुपावट होगी, अवरोध होगा, वहाँ हर बुराई को छुपाने की जगह मिलेगी, घुस-पैठ का अवकाश मिलेगा । धीरे-धीरे समग्र जीवन - भूमि पर दुर्गुणों की सघनताएँ इस प्रकार छा जाएँगी कि मानव, मानव न रह कर कुछ और ही हो जाएगा, जीवन का कण-कण विषाक्त बन जाएगा । इसी-लिए मैंने कहा है—समस्त दुर्गुणों का मूल माया है, दंभ है और कपट है । और, समस्त सद्गुणों की उर्वर - भूमि है—सरलता, ऋजुता, मृदुता ।

भगवान् महावीर से पूछा गया—“जिस पवित्र धर्म का आपने उपदेश किया है—उसका आधार क्या है ? वह कहाँ टिक सकता है और कहाँ बढ़ सकता है ?” उत्तर में महावीर ने एक सूक्त कहा—

“धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।”—उत्तराध्ययन, ३, १२.

—शुद्ध हृदय में ही धर्म ठहरता है ।

प्रश्न फिर आगे बढ़ा । हृदय की शुद्धता का सवाल आया कि हृदय को पवित्र एवं शुद्ध कैसे बनाया जा सकता है ? उत्तर में भगवान् ने कहा—“सोही उज्जुयभूयस्स ।” उत्तराध्ययन, ३, १२

—ऋजुता, सरलता से हृदय को पवित्र किया जा सकता है । जहाँ सरलता होगी, वहीं पवित्रता होगी । हृदय को ऋजु बनाए बिना वह शुद्ध नहीं हो सकता ।

प्रमुख जैनागम भगवती सूत्र में सम्यक्-दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि का विश्लेषण करते हुए बताया है—“भाई मिच्छादिट्ठी ।”

धर्म की आधारभूमि : ऋजुता :

माया-कुटिलता मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। अतः जो मायावी है, वह चाहे कितना ही बड़ा ज्ञानी और विद्वान क्यों न हो, उसकी दृष्टि मिथ्या है, उसका ज्ञान भी अज्ञान है।

जीवन के राहु-केतु :

आज के जीवन में चाहे वह व्यक्तिगत जीवन है, पारिवारिक या सामाजिक जीवन है, अथवा राष्ट्रिय जीवन है, उसमें सर्वत्र राजनीति का नाटक खेला जा रहा और आज की राजनीति कुटिलता का पर्याय बन गई है। जीवन के हर चरण पर छल - छद्म, विश्वासघात, और दुराव - छिपाव की दुर्-वृत्तियाँ छाई हुई हैं। पिता - पुत्र के हृदय एक - दूसरे से छिपे हुए हैं, पति - पत्नी के मनो में भी भेद—छिपावट है। सहोदर युगल बन्धुओं के हृदय भी एक-दूसरे के सामने खुल नहीं सकते। मन के संकल्प कुछ और हैं, वाणी में कुछ और झलक रहा है और व्यवहार तो कुछ और ही विचित्र है। मन - वचन - कर्म में कोई संगति नहीं है। सर्वत्र जीवन के टुकड़े - टुकड़े हो रहे हैं, मानो आदमी खण्ड-खण्ड होकर जी रहा है। पौराणिक गाथा के राहु - केतु की तरह मनुष्य भी आज दो खण्डों में विभक्त हो गया है, उसका चिन्तन एक अलग खण्ड में जा पड़ा है, और कर्म दूसरे अलग खण्ड में।

पौराणिक गाथा है, कि समुद्र-मंथन के समय अमृत प्राप्त हुआ, तो देवताओं ने विष्णु से प्रार्थना की—अमृत दैत्यों को न दिया जाए। वे ऐसे ही बड़े शक्तिशाली और दुर्जेय हैं, फिर अमृत पी लेंगे तो गजब ही ढाने लगेंगे। अस्तु, विचार - विमर्श के बाद विष्णु ने सब देवताओं को गुप्त स्थान पर एक पंक्ति में बिठाया और स्वयं अमृत पिलाने लगे। राहु जो दैत्य था, उसे अमृत पीने की लालसा जगी। छद्म से उसने देवता का रूप बनाया और देव पंक्ति में कहीं बीच में चुपके से आ बैठा। पंक्ति के बीच में से उठ कर वह बार - बार देखने लगा, कहीं अमृत खत्म न हो जाए और मैं योही कोरा-का-कोरा न रह जाऊँ। देवों ने उसकी चंचलता और पंक्ति को भंग करके इधर - उधर लपकने की वृत्ति देखी, तो डाँटा—तू कैसा देवता है, जो पंक्ति को तोड़कर इधर - उधर आगे - पीछे जाना चाहता है। राहु विनम्र भाव से विष्णु से

प्रार्थना करने लगा— भगवन्, मुझे जरा जल्दी है। कृपया मुझे अमृत पहले पिला दीजिए। विष्णु उसकी बातों में आ गए। अमृत पिलाने लगे, तो वह पीता ही चला गया, बस का कहीं नाम नहीं। विष्णु को आश्चर्य हुआ—यह कैसा देवता है, जो बेसत्री से एक सांस पीता ही चला जा रहा है, मन में जरा भी संतोष नहीं है। दूसरे भाइयों को हिस्सा देने की बिल्कुल फिकर नहीं। विष्णु ने गौर से उसकी ओर देखा, और पूछा “तू कौन है? कैसा देवता है तू, धृष्ट और असभ्य।” राहु चूँकि अमृत पी चुका था, अतः निर्भय होकर बोला—“कौन है देवता? मैं तो राहु हूँ—राहु।” अमृत पी चुका, अब क्या कर सकते हो, तुम मेरा?” विष्णु रोष में भर गए—“दुष्ट धूर्त, अभी तुझे तेरी धूर्तता का फल चखाता है।” कहते हैं कि सुदर्शन चक्र से उसकी गर्दन उतार डाली, किन्तु वह अमृतपान कर चुका था, अतः मरने की बजाय उसके दो टुकड़े हो गए, सिर का भाग राहु बन गया, नीचे वाला घड़ का भाग केतु। हाँ तो इस तरह छल ने राहु के दो टुकड़े कर डाले, और यही पौराणिक कथा का छल आज जन - जीवन के टुकड़े कर रहा है। जिन लोगों का मस्तिक अर्थात् विचार का केन्द्र अलग है और घड़ अर्थात् कर्म केन्द्र अलग है, वे धरती पर राहु और केतु के रूप में दैत्य ही हैं, और क्या ?

मित्रता का मूल केन्द्र : आर्जव :

यदि मनुष्य को जीवन में अखण्डता की साधना करनी है। जीवन में एकरूपता, समरसता प्राप्त करनी है, तो यह तभी हो सकेगा—जब हमारा मन सरल होगा, ऋजु होगा। वचन और कर्म में सरलता एवं अखण्डता आएगी।

संसार का प्रत्येक प्राणी मित्रता की भावना करता है। आज व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक मैत्री के सूत्र में बन्धने की कामना कर रहे हैं। पर, उस मैत्री का आधार क्या है? मित्रता का पहला नियम है—मुक्त मन। हृदय यदि उन्मुक्त नहीं है, सरल नहीं है, तो उसमें मित्रता का प्रवेश नहीं हो सकता। खुला हृदय ही मित्रता का मंगल द्वार है। छुपावट से स्नेह के धागे टूट जाते हैं। दंभ रूप पागल हाथी की टक्कर से मैत्री का कल्पवृक्ष धराशायी

धर्म की आधारभूमि : ऋजुता :

हो जाता है। कुटिल के साथ मित्रता कभी निभ सकती है ? नहीं। इसलिए भगवान् महावीर ने दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

‘माया मित्ताणि नासेई ।’—८, ३८

—माया मित्रता को नष्ट कर डालती है। पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रिय सम्बन्धों को, पारस्परिक स्नेह एवं सद्भाव को समाप्त कर देती है। मैत्री - सम्बन्ध सरल एवं ऋजु मन पर निर्भर करता है, इसलिए आर्जव भाव को मैत्री का मूल केन्द्र माना गया है। तथागत बुद्ध ने कहा है—

दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति पंडिता ।”

—मज्झिमनिकाय, २, ३६, ४

—कुशल बढ़ई लकड़ी को सीधा करके उससे सुन्दर खिलौने और विशाल भवन तैयार करता है, वैसे ही साधक आत्मा को सीधा - सरल बना कर विश्व-मैत्री का महल खड़ा कर लेता है।

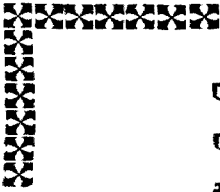
सरलता का अर्थ मूर्खता नहीं :

आज के युग में ‘सरलता’ को कुछ दूसरा रूप दिया जाने लगा है। सरलता कहीं - कहीं मूर्खता का पर्याय समझी जाने लगी है— यह एक बड़ी भ्रान्ति है। वास्तव में कुछ लोग अपनी मूर्खताओं तथा गलतियों पर सरलता का आवरण डालने की चेष्टा करते रहे हैं, जिस कारण लोग सरल व्यक्ति को बुद्धू समझने लग गए हैं। भारतीय-संस्कृति में ‘बुद्धू’ शब्द सरल एवं विनीत व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता रहा है। जैन सूत्र उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक तथा धम्मपद, सुत्तपिटक आदि बौद्धागम इसके साक्षी हैं। धीरे-धीरे लोगों ने सरलता में मूर्खता का आरोप करना शुरू किया और बुद्ध जैसा सुन्दर शब्द ‘बुद्धू’ के रूप में मूर्खता का वाचक समझा जाने लगा है। किन्तु, सरल होना और बात है, बुद्धू होना और। सरलता में विवेकशीलता की अपेक्षा रहती है। इसलिए हमें ‘बुद्धू’ सरल नहीं, किन्तु चतुर सरल होना चाहिए। सरलता के साथ चतुरता एवं बुद्धिमत्ता का मणि-कांचन संयोग करते हुए ही आज से पन्चीस सौ वर्ष पूर्व गणधर गौतम ने श्रावस्ती की सुप्रसिद्ध विचार सभा में ‘ऋजु प्राज्ञ’ शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने बताया था—जिस युग में मनुष्य ‘ऋजु प्राज्ञ’ होते हैं, सरल-साथ

ही बुद्धिमान होते हैं—वही युग वास्तव में मानव-जाति का श्रेष्ठ युग है। जैन-संस्कृति में भगवान् आदिनाथ एवं भगवान् महावीर के मध्य काल को सर्वश्रेष्ठ काल माना है—अतः उस युग को—“मज्झिमा उज्जुपण्णा य” कह कर मध्यकाल के ऋजु - प्राज्ञ मनुष्यों को आदर्श बताया गया है।

यदि आर्जव - मार्दव आदि आन्तरिक सद्गुणों के विकास का प्रयत्न करना है, तो हमें यह याद रखना है—सरलता, सद्गुणों की जननी है, ऋजुता, धर्म की आधार भूमि है। हाँ ऋजुता के साथ हम प्रज्ञा की अवगणना न करें। याद रखिए, आपको सरल बनना है, पर बुद्धू नहीं। चतुर बनना है, पर धूर्त नहीं। 'भला' कहलाना है, भोला नहीं। बुद्धूपन, धूर्तता, और भोलापन ये मन के दोष हैं। सरलता, भलापन और चतुरता ये हृदय के सद्गुण हैं, जीवन को अलंकृत करने वाले बहुमूल्य अलंकार हैं।

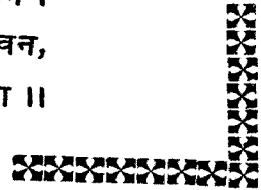
जनवरी १९७३.



एक धर्म हो, एक कर्म हो,
एक हृदय हो, एक विचार।
समतल हो साधक का गति-पथ,
अन्दर - बाहर एक प्रकार ॥



एक - एक दीपक जुड़ने से,
दीवाली हो जाती जगमग।
एक - एक सद्गुण से जीवन,
होता जन-जन-पूजित पग-पग ॥



धर्म की आधारभूमि : ऋजुता :

सत्य की खोज जीवन की सबसे बड़ी प्यास है। किन्तु, यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है मानव - जाति का कि बहुत कम लोग सत्य की इस प्यास को ठीक तरह महसूस कर पाते हैं। और, वे लोग तो अंगुलियों पर ही गिनती में आते हैं, जो इस प्यास को बुझाने के लिए यत्नशील होते हैं। सत्य का क्षीरसागर भरा है, किन्तु एक घूँट पीने के लिए भी कोई प्रस्तुत नहीं है। प्रथम तो प्यास ही नहीं लगती है, और लगती भी है, तो उस ओर गति नहीं होती।

सत्य की खोज की दो दिशाएँ रही हैं, मानव-जाति की अब तक की चेतना में। एक दिशा बाहर में है, तो दूसरी दिशा अन्दर में है। एक बहिर्मुख है, तो दूसरी अन्तर्मुख है।

जब मानव - मस्तिष्क ने बाहर में सत्य को खोजना प्रारम्भ किया, तो उसने जड़ प्रकृति तत्त्व को देखा, उसकी गहराई में पैठा, और परमाणु जैसे सूक्ष्म तत्त्व को और उसकी विराट् शक्ति को खोज निकाला। मानव सभ्यता ने बड़ी शान के साथ परमाणु युग में प्रवेश किया। और, यह उसी का चमत्कार है कि धरती पर का यह मिट्टी का मानव आज चन्द्रलोक में चहल-कदमी करने पहुँच गया है। परमाणु की खोज ने एक तरह से विश्व का मान-चित्त ही बदल कर रख दिया है।

और, जब अन्दर में खोज प्रारम्भ हुई, तो परमात्म - तत्त्व को खोज निकाला। बाहर के विश्व से भी बड़ा एक विश्व मानव के अन्दर में रह रहा है। 'महतो महीयान्' की एक अनन्त ज्योति इस देह के मृत्पिण्ड में समायी हुई है। जिसे हम आत्मा कहते हैं,

उसी का अनन्त विशुद्ध रूप ही तो परमात्म - तत्त्व है, जिसकी प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने खोज की है ।

परमाणु और परमात्मा, दोनों ही सत्य के दो केन्द्र बिन्दु हैं । पहला जड़ पर आधारित है, तो दूसरा चैतन्य पर । पहले की खोज का माध्यम प्रयोग है, तो दूसरे की खोज का माध्यम योग है । दोनों की खोज में अन्तर केवल इतना ही है कि बाह्य जगत् की खोज में एक वैज्ञानिक की साधना दूसरे की साधना का आधार बन सकती है । पहले की खोज दूसरे के काम आ सकती है । पहले की साधना का उपयोग करके आगे आने वाला दूसरा अपनी साधना को आगे बढ़ा सकता है । इतना ही नहीं, वर्तमान के अपने सहयोगियों का साथ भी बाहर के विज्ञान की खोज में काफी सहायक सिद्ध हो सकता है । पर, जहाँ तक अन्तर्-जगत् की खोज का प्रश्न है, उसमें ऐसा कुछ नहीं है । हर साधक को अपने ही केन्द्र-बिन्दु से अपनी साधना का प्रारम्भ करना होता है । यहाँ दूसरे व्यक्ति की साधना या खोज कोई खास काम नहीं आती । यह ठीक है, कि अन्तर्जगत् की साधना के क्षेत्र में भी गुरु होते हैं, वे अपना अनुभव आने वाले शिष्यों को बताते हैं । और, उनका यह बताना, भविष्य के लिए अपना शास्त्र हो जाता है । गुरु और शास्त्र दोनों ही कुछ उपयोगिता तो रखते हैं, परन्तु यह उपयोगिता एक सीमा तक ही है । लक्ष्य - प्राप्ति में अन्तिम निर्णायक नहीं होती है—यह उपयोगिता । बाहर के आचार, विचार और व्यवहार में कुछ दूर तक गुरु और शास्त्र का उपयोग हो सकता है, मार्ग - दर्शन मिल सकता है, कुछ जानकारी भी हासिल की जा सकती है, किन्तु अपने अन्दर में पैठना तो अपने को ही होता है, दूसरा कौन किसके अन्दर में पैठ सकता है । अन्तर् - जगत् में प्रवेश करते ही गुरु और गुरु के शब्द बाहर ही रह जाते हैं, क्योंकि वे बाहर के हैं न ? जो बाहर का है, वह अन्दर में कैसे पैठ सकता है । इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—“अपदस्स पदं नत्थि”

अन्तर् का आत्म तत्त्व अपद है, वह किसी शब्द द्वारा ग्राह्य एवं ज्ञातव्य नहीं है । वह किसी के दिए तर्क से भी दृष्टिगोचर नहीं होता है । महावीर ने इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—“तक्का तत्थ न विज्जई ।”

दोषा का अर्थबोध :

वहाँ तर्क की भी पहुँच नहीं है। वहाँ पहुँच है, एकमात्र अनुभूति की। अनुभूति अपनी होती है। दूसरे की अनुभूति अपने लिए अनुभूति नहीं, केवल जड़ शब्द होते हैं। और, ये शब्द परोक्ष रूप में एक धुँधलाता - सा सत्य अवश्य उभारते हैं, मानव मन में। किन्तु, यह सत्य स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। किसी के कहने से भी मिथ्री के मिठास का ज्ञान हो सकता है और मिथ्री को जिह्वा पर चखने से भी उसके मिठास का अनुभव होता है। पर आप जानते हैं, दोनों में कितना अन्तर होता है। आकाश-पताल से भी ज्यादा अन्तर है दोनों परिबोधों में। यह अन्तर है, शब्दबोध और अनुभूतिबोध में। अन्तर्जगत् में परमात्म-तत्त्व का बोध अनुभूति बोध के क्षेत्र में आता है, शब्द बोध के क्षेत्र में नहीं। अतः यहाँ गुरु और शास्त्र से बहुत - कुछ सीख लेने के बाद भी शून्य ही रहता है, यदि साधक स्वयं अनुभूति की गहराई में नहीं पैठता है तो। आज तक के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि किसी ने अपनी आँख खोले बिना दूसरे की आँख से वस्तु - दर्शन कर लिया हो। हर साधक की खोज अपनी, और अपनी ही होती है। दूसरे की नकल, नकल तो हो सकती है, पर वह कभी असल नहीं हो सकती। सत्य एक है, परन्तु उसकी खोज की प्रक्रियाएँ भिन्न - भिन्न होती हैं। इसीलिए एक वैदिक ऋषि ने कहा था कभी चिर अतीत में—

“एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति”

महावीर और बुद्ध एक युग के हैं, पर दोनों की शोध - क्रिया भिन्न है। और तो क्या, एक ही परम्परा के पार्श्व और महावीर की चर्या पद्धति भी एक - दूसरे से पृथक् है। अनन्त आकाश में उन्मुक्त उड़ान भरने वाले पक्षियों की भाँति परम-तत्त्व की खोज में निकले यात्रियों के मार्ग भी भिन्न - भिन्न रहे हैं। इनके मार्गों की कहीं कोई एक धारा निश्चित नहीं हो सकी है। जितने यात्री उतने पथ। यही कारण है कि परमाणु की खोज की अपेक्षा परमात्मा की खोज अधिक जटिल है। इसकी सदा सर्वदा के लिए कोई एक नियत परम्परा नहीं बन सकती—

“विघ्नता के मारग हैं तेरे, सरग नखत तन रोखा जेते।”

विश्व इतिहास पर नजर डालने से पता लगता है कि परमात्म - तत्त्व की खोज की कोई एक परम्परा नहीं है, फिर भी परम्पराओं में एकत्व परिलक्षित तो होता है। अनेक में एक का दर्शन यहाँ पर भी प्रतिभासित होता है, और वह है दीक्षा का। हर धर्म और हर दर्शन की परम्पराओं में दीक्षा है। साधना का मूल स्रोत दीक्षा से ही प्रवाहित होता है। दीक्षा का अर्थ केवल कुछ बंधी-बंधायी व्रतावली को अपना लेना नहीं है, अमुक संप्रदाय विशेष के परंपरागत किन्हीं क्रियाओं एवं वेशभूषाओं में अपने को आवद्ध कर लेनाभर नहीं है। ठीक है, यह भी प्रारंभ में होता है। इसकी भी एक अपेक्षा है। हर संस्था का अपना कोई गणवेश होता है। परन्तु, महावीर कहते हैं, यह सब तो बाहर की बातें हैं, वातावरण बनाये रखने के साधन हैं—“लोगे लिगप्पओयणं ।”

अतः दीक्षा का मूल उद्देश्य यह नहीं, कुछ और है। और, वह है परम-तत्त्व की खोज अर्थात् अपने में अपने द्वारा अपनी खोज। अस्तु, मैं दीक्षा का अर्थ आज की सांप्रदायिक भाषा में किसी संप्रदाय विशेष का साधु या साधक हो जाना नहीं मानता हूँ। मैं आध्यात्मिक भाव - भाषा में अर्थ करता हूँ, बाहर से अन्दर में पैठना, अपने गुम हुए स्वरूप को तलाशना, बाहर के आवरणों को हटाकर अपने को खोजना, और सही रूप में अपने को पा लेना। दीक्षार्थी अपने विशुद्ध परम-तत्त्व की खोज के लिए निकल पड़ा एक अन्तर्यात्री है। यह यात्रा अन्तर्यात्रा इसलिए है कि यह बाहर में नहीं, अन्दर में होती है। साधक बाहर से अन्दर में गहरा, गहरा उतरता जाता है, आवरणों को निरन्तर तोड़ता है, फलस्वरूप अपने परम चैतन्य, चिदानन्द स्वरूप परमात्म-तत्त्व के निकट, निकटतर होता जाता है। यह खोज किसी एक जन्म में प्रारम्भ होती है, और साधक में यदि तीव्रता है, तीव्रतरता है, तो उसी जन्म में पूरी भी हो जाती है, तत्काल - तत्क्षण ही पूरी हो जाती है। और यदि साधक में अपेक्षित तीव्रता एवं तीव्रतरता नहीं है, तो कुछ देर लग सकती है। एक जन्म में नहीं, अनेक जन्मों में जाकर यह खोज पूरी होती है—

“अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ।”

दीक्षा का अर्थबोध :

१७

जन्मों की संख्या का सत्य नहीं है, सत्य है केवल एक कि जो चल पड़ा है ईमानदारी के साथ इस पथ पर, वह एक-न-एक दिन देर-सवेर मंजिल पर पहुँच ही जाता है।

मैं चाहता हूँ, आज का साधु - समाज जिज्ञासु एवं मुमुक्षु जनता के समक्ष दीक्षा और दीक्षा के मूल वैराग्य के वास्तविक स्वरूप को स्पष्टता के साथ उपस्थित करे। खेद है, दीक्षा और वैराग्य के सम्बन्ध में बहुत-कुछ गलत बातें उपस्थित की जा रही हैं। जिनसे दीक्षा का अपना परम पवित्र लक्ष्य - बिन्दु घूमिल हो गया है, एक तरह से उसे भुला ही दिया गया है। और, इसीका यह परिणाम हो रहा है कि साधाक स्वयं भी भ्रान्त हो जाता है, और साथ ही दर्शक जनता भी।

मैं सुनता हूँ, साधुओं के उपदेश की घिसी-पिटी एक पुरानी-सी परंपरागत प्रचलित भाषा—“संसार असार है। कोई किसी का नहीं है। सब स्वार्थ का मायाजाल है। नरक में ले जाने वाले हैं, ये सगे-सम्बन्धी। जीवन में सब ओर पाप - ही - पाप है। पाप के सिवा और है ही क्या यहाँ ? अतः छोड़ो यह सब प्रपंच। एक दिन यह सब छोड़ना तो है ही, फिर आज ही क्यों न छोड़ दो ? सर्वत्र भूठ का पसारा है, अन्धकार है, सधन अन्धकार। अन्धकार में कब तक ठोकरें खाते रहोगे ? परिवार से, समाज से, सब से सम्बन्ध तोड़ो, वैराग्य ग्रहण करो, दीक्षा लो।” यह तोतारटंत भाषा है, जिसे कुछ भावुक मन सही समझ लेते हैं, और आँख बन्द कर चल पड़ते हैं तथाकथित गुरुजनों के शब्द-पथ पर। सब - कुछ छोड़-छाड़ कर साधु बन जाते हैं, दीक्षित हो जाते हैं। परन्तु, वस्तुतः होता क्या है—इस प्रकार से दीक्षित होने के बाद ! पंथ, और सम्प्रदायों के नए परिवार खड़े हो जाते हैं, राग और द्वेष के नए बन्धन आ घमकते हैं। एक खूँटे से बंधा पशु दूसरे मजबूत खूँटे से बाँध दिया जाता है। क्या राहत मिलती है पशु को, खूँटों के बदलने से ? दीक्षार्थी की भी प्रायः यही स्थिति हो जाती है। कुछ दूर चलकर बहुत शीघ्र ही वह अनुभव करने लगता है, कि जिस समस्या के समाधान के लिए मैं यहाँ आया था, वही समस्या यहाँ पर भी है। वही स्वार्थ है, वही दम्भ है, वही अहंकार है, वही घृणा है और है वही द्वेष ! कुछ भी तो अन्तर नहीं है, कहाँ

आ फँसा मैं यहाँ ? यह सब इसलिए होता है, कि भद्र साधकों को साधना की सही दृष्टि नहीं दी जाती है। परिणाम स्वरूप अनेक दीक्षितों से कभी-कभी सुनने को मिलता है, कि क्या करें ? साधना हो तो रही है, पर वह सब ऊपर - ऊपर से हो रही है। भीतर से कोई परिवर्तन नहीं, कोई नई उपलब्धि नहीं। इस प्रकार एक दिन का वह प्रसन्न चित्त वैरागी अपने में एक गहरी रिक्तता का अनुभव करने लगता है। और, कभी-कभी तो उसका अन्तर्मन ग्लानि से इतना भर उठता है कि विक्षिप्तता की भूमिका पर पहुँच जाता है, और कुछ-का-कुछ करने पर उतारू हो जाता है।

आज की साधु संस्था के समक्ष यह एक ज्वलंत समस्या है, जो अपना स्पष्ट रचनात्मक समाधान चाहती है। हमारे उपदेश की भाषा और साधना की पद्धति अधिक स्वस्थ और मनोवैज्ञानिक होनी चाहिए, ताकि दीक्षित व्यक्ति को अपने में रिक्तता का अनुभव न करना पड़े, उसे अपनी स्वीकृत साधना से यथोचित सन्तोष हो सके। यदि ऐसा कुछ हो सका, तो निश्चित ही उसकी सम्यक्-प्रक्रिया व्यक्ति पर तो होगी ही, समाज पर भी अवश्य होगी। समाज में दीप्तिमान् तेजस्वी एवं स्व - पर - हिताय सक्रिय साधु संगठन निर्मित हो, इसके लिए साधु - संस्था को वैज्ञानिक प्रयोग-शाला की तरह प्रत्यक्षतः उपलब्धि का केन्द्र होना जरूरी है। जहाँ जीवन की गहराइयों को सूक्ष्मता से समझा जा सके, अन्तर् की सुप्त ऊर्जा के विस्फोट के लिए उचित निर्णायक प्रयास हो सके। इसके लिए चेतना पर पड़े अनन्त दूषित आवरणों को, परतों को, विकल्पों को एवं मिथ्या - धारणाओं को दूर करना होगा। दीक्षा में छोड़ने के मूल मर्म को समझना होगा। परिवार तथा समाज की पूर्व प्रतिबद्धताओं में से बाहर निकल आने का अर्थ परिवार तथा समाज से घृणा नहीं है, खिन्नता नहीं है, अपितु यह तो विराट् की खोज के लिए क्षुद्र प्रतिबद्धताओं को लाँघ कर एक अखण्ड विराट् चैतन्य - धारा के साथ एकाकार होना है। यह अभूमा से भूमा को यात्रा है, व्यष्टि से समष्टि में लीन होने की एक आन्तरिक प्रक्रिया है, जहाँ पहुँचने पर 'छोड़ा और न छोड़ा' सब एक हो जाते हैं। सागर में जैसे सब जलधाराएँ समाविष्ट हो जाती हैं, वैसे ही दीक्षित की विराट् चेतना में अपने-पराये सब

एक हो जाते हैं। अलग से कोई भी बच नहीं रहता है। परिवार तथा समाज को छोड़ देने की केवल एक चलती भाषा बच रहती है, अन्यथा प्राणिमात्र के प्रति भावात्मक एकता में किसी को कहीं छोड़ देने जैसे क्या रहता है ?

दीक्षार्थी अपने अन्दर में शुद्धत्व के लिए गति करता है और बाहर में समाज के शुभत्व के लिए यत्नशील होता है। अतः हमें किसी को साधु इसलिए नहीं बनाना है कि संसार असार है, स्वार्थी है, भूठा है। अपितु इसलिए बनाना है, कि शरीर, इन्द्रिय और मन आदि की अनेकानेक सूक्ष्म एवं साथ ही सघन परतों के नीचे दबा अनन्त चेतना का जो अस्तित्व है—उसकी उपलब्धि एवं अभिव्यक्ति ही साधक जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है, उसकी खोज दीक्षार्थी प्रशान्त मन - मस्तिष्क से कर सके। यह वह स्थिति है, जहाँ परिवार या समाज के छोड़ने या छूट जाने का अच्छा-बुरा कोई विकल्प ही मन में नहीं रहता। इस अर्थ में छोड़ने और छूटने का पूर्ण विस्मरण हो जाता है। यह त्याग का भी त्याग है, 'मुच्' धातु के कर्तृत्व का विसर्जन है, जो आज के साधु जीवन में ठीक तरह हो नहीं पा रहा है। अस्तु, दीक्षा सहजानन्द की प्राप्ति के द्वारा अन्तर्मन की रिक्तता को समाप्त कर देती है, परम सत्य के निर्मल एवं शाश्वत आलोक के लिए द्वार खोल देती है। परम-चेतना की खोज के लिए साधु-जीवन एक अवसर है। यह अन्तिम साध्य नहीं, बीच का एक साधन है। इसके द्वारा साधक अपने परम चैतन्य स्वरूप स्वतत्त्व के निकट पहुँच सकता है, उसे पा सकता है, बस यही अन्तर्जगत् की दृष्टि से दीक्षा के सही मूल्य की उपलब्धि है, दीक्षा की सही उपयोगिता है।

बाह्य जगत् की दृष्टि से दीक्षा का उद्देश्य जनता में अशुभ की निवृत्ति एवं शुभ की स्थापना है। जनता को हर प्रकार के अन्ध-विश्वासों से मुक्त करना और उसे यथार्थ सत्य का परिबोध कराना, साधु-जीवन का सामाजिक कर्तव्य है। साधु अन्धकार का नहीं, प्रकाश का प्रतीक है, अशान्ति का नहीं, शान्ति का प्रतीक है, शान्ति का सन्देश - वाहक है, भ्रान्ति का नहीं, सत्य का पक्षधर है। वह समाज का निर्माता है, समाज के नैतिक पक्ष

को उजागर करने वाला है। वह अन्दर में तो मूक, चुपचाप, निष्क्रियता से प्रवेश करता है, किन्तु बाहर समाज में उसका प्रवेश सिंहनाद के साथ पूर्ण सक्रियता से होता है। अतः दीक्षित साधुओं का सामाजिक दृष्टि से प्राथमिक शिक्षा-सूत्र होना चाहिए—“तुम सर्व प्रथम केवल एक मनुष्य हो। तुम्हारी कोई जाति नहीं है, तुम्हारा कोई पंथ, वर्ण या वर्ग नहीं है। न तुम्हारा कोई एक प्रतिबद्ध समाज है, और न राष्ट्र है। तुम सब के हो, और सब तुम्हारे हैं। तुम एक विश्व - मानव हो। विश्व की हर अच्छाई तुम्हारी अपनी है। तुम्हारा हर कर्म विश्व - मंगल के लिए प्रतिबद्ध है। अतः तुम्हारी अहंता और ममता का उदात्तीकरण होना चाहिए। इतना उदात्तीकरण, कि उसमें समग्र विश्व समा जाए। इस संदर्भ में एक प्राचीन विश्वात्मा मुनि के शब्द दुहरा देता है—

“अहंता - ममताभावस्, त्यक्तुं यदि न शक्यते ।

अहंता - ममताभावः, सर्वत्रैव विधीयताम् ॥”

उक्त पवित्र विचार के प्रकाश में ही आज साधुओं को दीक्षित करने की आवश्यकता है। क्षुद्र - हृदय साधु से बढ़कर कोई बुरी चीज नहीं है, दुनिया में। सच्चा साधु वह है, जो विश्वात्मा है। विश्वात्म-भाव में से ही परमात्म-भाव प्रस्फुटित होता है। कुछ ऐसे ही प्रबुद्ध, विवेकी एवं महामना साधु - जनों की आज विश्व को बहुत बड़ी अपेक्षा है। साधु का अर्थ ही सज्जन है। वह सज्जनता का, शालीनता का ध्रुव केन्द्र है। इस प्रकार साधु संस्था पर विश्व में सर्वतोमुखी सज्जनता की प्रतिष्ठा का दायित्व है। आज विश्व की भौतिक प्रगति ने मानव को सब ओर से असंतुष्ट बना रखा है। आज का मानव दिशा - भ्रष्ट हो गया है, होता जा रहा है। विभिन्न प्रकार के घातक और भंयकर उपकरणों के मर्यादाहीन निर्माण ने जीवन की सुरक्षा को खतरे में डाल दिया है। निरन्तर की बढ़ती जाती उत्तेजनाओं ने जीवन की सहज शान्ति को भंग कर दिया है। तुच्छ स्वार्थ एवं अहंकार, मानवता की गरिमा के प्यासे बनकर रक्त - पिपासु भेड़ियों की भाँति मैदान में निकल पड़े हैं। ऐसे नाजुक समय में साधु-संस्था पर दुहरा उत्तर-दायित्व आ पड़ा है। उसे अपने को भी संभालना है और समाज को भी। अतः उसे चाहिए, कि अपनी आन्तरिक अनन्त चेतन-

दीक्षा का अर्थबोध :

२१

सत्ता के जागरण के साथ, वह जन - जागरण का दायित्व भी पूरा करे। वह वैयक्तिकता के क्षुद्र घेरे में आवद्ध होने वाली स्वार्थ-लिप्त दुनिया को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की पवित्र घोषणा दे, उसे सच्ची मानवता का पाठ पढ़ाए।

जीवन की क्षुद्र विकृतियों से ऊपर उठकर अन्तर् में परमात्म-तत्त्व की खोज और उसके अंग स्वरूप विश्व - मानवता का आत्मौपम्य दृष्टि से नव-निर्माण, संक्षेप में यही है मुनि-दीक्षा का, साधुता का मंगल आदर्श।

सितम्बर १९७३

सामूहिक साधना

जैन-धर्म की मूल परम्परा में व्यक्ति साधना के क्षेत्र में स्वतन्त्र होकर अकेला भी चलता है और समूह या संघ के साथ भी। एक ओर जिनकल्पी मुनि संघ से निरपेक्ष होकर व्यक्तिगत साधना के पथ पर बढ़ते हैं, तो दूसरी ओर स्थविर-कल्पी विराट् समूह, हजारों साधु - साध्वियों का संघ, सामूहिक जीवन के साथ साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ता है। जैन धर्म और जैन परम्परा ने व्यक्तिगत धर्म साधना की अपेक्षा सामूहिक साधना को अधिक महत्त्व दिया है। सामूहिक चेतना और समूहभाव उसके नियमों के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। अहिंसा और सत्य को वैयक्तिक साधना भी संघीय रूप में सामूहिक साधना की भूमिका पर विकसित हुई है। अपरिग्रह, दया, करुण और मैत्री की साधना भी संघीय धरातल पर ही पल्लवित - पुष्पित हुई है। जैन - परम्परा का साधक अकेला नहीं चला है, बल्कि समूह के रूप में साधना का विकास करता चला है। व्यक्तिगत हितों से भी सर्वोपरि संघ के हितों का महत्त्व मानकर चला है। जिन-कल्पी जैसा साधक कुछ दूर अकेला चलकर भी अन्ततोगत्वा संघीय जीवन में ही अन्तिम समाधान कर पाया।

३ : श्रमण-परम्परा की सामायिक-साधना

करेमि भंते सामाइयं
सव्वं सावज्जं जोग पच्चक्खामि
जावज्जीवाए
तिविहं तिविहेणं
मणेणं, वायाए, काएणं
न करेमि, न कारवेमि,
करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि
तस्स भंते
पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि
अप्पाणं वोसिरामि !

भावार्थ :

भंते ! मैं सामायिक करता हूँ,
सब प्रकार के सावद्य पाप - कर्मों का त्याग करता हूँ,
जीवन पर्यन्त
तीन करण और तीन योग से
अर्थात् मन से, वचन से, काय से
सावद्य कर्म न करूंगा, न कराऊंगा,
और न पाप - कर्म करने वाले दूसरों का अनुमोदन ही करूंगा,
भंते ! पूर्वकृत पापों का
मैं प्रतिक्रमण (निवृत्ति) करता हूँ, उनकी निन्दा एवं गर्हा करता
हूँ । पापाचार से दूषित अपने पूर्वजीवन का मैं पूर्णरूप से विसर्जन
करता हूँ ।

श्रमण-परम्परा की सामायिक-साधना ।

२३

विवेचना :

यह सामायिक सूत्र, वह प्रतिज्ञा सूत्र है, जो नर और नारी आर्हती दीक्षा ग्रहण करते समय, समान रूप में बोलते हैं। मूल जैन - परम्परा के अनुसार साधक को गुरु की ओर से कोई प्रतिज्ञा नहीं कराई जाती। गुरु केवल प्रतिबोध देता है, जगाता है, फिर जागृत शिष्य अपनी शक्ति और अपने देश, काल आदि की परिस्थिति का सम्यक् - आकलन कर स्वयं व्रत ग्रहण करता है। गुरु केवल साक्षी के रूप में उपस्थित रहता है, कभी नहीं भी रहता है। यही कारण है कि सूत्र पाठ में सर्वत्र उत्तम पुरुष का प्रयोग है। जैसे कि—'करेमि भंते सामाइयं'—भगवन् ! मैं सामायिक करता हूँ, ऐसा नहीं कि मैं तुझे सामायिक कराता हूँ।

सामायिक का निर्वचन :

जैन-दीक्षा की साधना का नाम सामायिक है। यह केवल वेष का ही परिवर्तन नहीं है कि सिर मुंडाया, और साधु बन गए। संसार के धरातल पर पैर जमे नहीं, अभावग्रस्त रहे, और अब साधु बन गए, तो दूसरों के कन्धों पर सवार होकर, मौज - मजा उड़ाएँ। जैन-दीक्षा असिधारा व्रत है, तलवार की नंगी धारा पर नृत्य करना है। देखने में जैन भिक्षु के बाह्य क्रिया - काण्ड भी बहुत उग्र हैं, परन्तु अन्दर की भाव - साधना तो सर्वाधिक तीव्र है, वहाँ तो बड़े - से - बड़े लोक वीर भी पराजित हो जाते हैं। तन के क्षेत्र की अपेक्षा मन का क्षेत्र अधिक दुर्गम है। अतः असली विजेता मन का विजेता ही है—

मनोविजेता जगती विजेता ।'

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'गति' अर्थवाली 'इण्' धातु से 'समय' शब्द बनता है। 'सम्' का अर्थ एकीभाव है, स्व स्वरूप रूप एकत्व भाव है, और 'अय' का अर्थ गति है, गमन है। अस्तु, जो आत्म-स्वरूपात्मक एकत्व भाव के द्वारा पर-परिणति से, बहिर्मुखता से वापस मुड़कर स्व-परिणति की ओर, अन्तर्मुखता की ओर गमन है, उसे 'समय' कहते हैं। समय का भाव 'सामायिक' है। अथवा

जिस साधना का समय ही प्रयोजना है, वह साधना सामायिक है—
 'सम्' एकी भावे वर्तते । तद् यथा, संगत धृतं संगतं तैलमित्युक्त
 एकीभूतिमिति गम्यते । एकत्वेन अयनं गमनं समयः । समय एव सामा-
 यिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम् ।

उपर्युक्त विवेचन का संक्षेप में यह भाव है कि अपने मन, वचन और काय को पाप मूलक वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों से हटाकर शुद्ध स्वरूप के एक शाश्वत ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है । सामायिक का साधक सांसारिक शुभाशुभ के केन्द्र से हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक केन्द्र की ओर गतिशील होने के लिए मन को वश में करता है, वचन को वश में करता है, काय को वश में करता है, राग-द्वेष आदि के दुर्भावों को हटा कर शत्रु-मित्र आदि कहे जाने वाले सबको समान - दृष्टि से देखता है—न किसी पर द्वेष और न किसी पर राग अर्थात् अच्छे - बुरे सभी सांसारिक द्वन्दों में समभाव धारण कर लेता है । फलतः उसका जीवन सब ओर से निर्द्वन्द्व हो कर सहज शान्ति एवं समभाव की आध्यात्मिक भावधारा में बहने लगता है ।

उक्त भाव को स्पष्ट करने के लिए ही प्रतिज्ञा पाठ में कहा है—'सर्वं सावज्जं जोगं पञ्चवखामि ।'

मैं सब प्रकार के हिंसा, असत्य आदि सावद्य—पाप - कर्मों का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

वृत्ति और प्रवृत्ति :

दीक्षा सूत्र के पाठ में 'सर्वं सावज्जं जोगं' से सम्बन्धित अंश क्या जीवन व्यवहार में खरा उतरता है ? क्या यह संभव है, कि साधक व्यक्ति वस्तुतः सब प्रकार की हिंसादि सावद्य - प्रवृत्तियों के प्रत्याख्यान का पालन पूर्ण रूप से कर सकता है ? भिक्षु गोचरचर्या आदि के लिए गमनागमन करता है, तो हिंसा हो जाती है । भोजन जब अन्दर में जाता है, और उसका परिगलन होता है, तो उसमें असंख्य संमूर्च्छिम जीवों का जन्म - मरण होता है, हिंसा हो जाती है । शीचादि एवं श्वसनादि क्रियाओं में हिंसा होती है । शास्त्र में जल - संतरणादि का उल्लेख है, उसमें भी जलीय जीव,

यहाँ तक कि त्सजीवों की भी हिंसा होती है। इसी प्रकार वस्त्र, पात्र आदि के रूप में परिग्रह भी रखा ही जाता है। अतः प्रश्न है कि फिर भिक्षु का यह समग्र सावद्य - योग का प्रत्याख्यान क्या अर्थ रखता है ?

समाधान है—जीवन, जीवन है। उसका बहुत बड़ा भाग हिंसा एवं परिग्रह आदि पर ही टिका हुआ है। उनका सर्वथा परिहार जीवन - व्यवहार में नहीं हो सकता। नीचे की भूमिका वाले साधकों की तो क्या बात, सर्वथा पूर्ण अवस्था की भूमिका पर पहुँचे हुए केवलज्ञानियों तक से भी सर्वथा परिहार नहीं होता है। तीर्थंकर वीतराग भी नदी संतरण आदि के रूप में नौका आदि का प्रयोग करते हैं। अतः हिंसा आदि सावद्य - योग का सम्बन्ध बाह्य प्रवृत्तियों से उतना नहीं है, जितना कि मानव की आन्तरिक वृत्ति से है। प्रवृत्ति में से निवार्य एवं परिहार्य हिंसा आदि का ही परिहार होता है, किन्तु जो अनिवार्य एवं अपरिहार्य है, उसका कोई कैसे परित्याग कर सकता है ? वह तो मुक्त होने से पूर्व के अयोगी गुणस्थान में ही मुक्त होती है, पहले नहीं।

अतः प्रवृत्ति की अपेक्षा जैन - दर्शन वृत्ति पर अधिक ध्यान देता है। वह कहता है, प्रवृत्ति में से तो परिहार्य हिंसा आदि ही छूट सकती है, अतः वही बाह्य प्रत्याख्यान की कोटि में आ सकती है, परंतु वह पूर्णतः परित्यक्त नहीं हो सकती। हाँ, साधक अपनी वृत्ति में से हिंसा आदि का पूर्णतः निष्कासन कर सकता है। द्वेष एवं घृणा के आधार पर हिंसा नहीं, अपितु मजबूरी एवं अनिच्छा से अनिवार्यतः हिंसा होती है, और उस हिंसा की हिंसा में गणना नहीं होती। अनिवार्य अपवाद रूप में नदी संतरणादि क्रिया भी रागादि वश नहीं होती, अतः वह हिंसा भी मूलतः हिंसा नहीं है। रोगादि विशेष स्थिति में प्रतिकार स्वरूप होने वाली हिंसा भी हिंसा नहीं है। आवश्यक उपकरण आदि भी धर्मसाधना हेतु रखे जाते हैं, लोभादिवश नहीं, अतः वे भी परिग्रह की कोटि में नहीं आते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में इसीलिए आचार्य उमास्वाति ने हिंसा और परिग्रह सूत्र में कहा है कि राग-द्वेषादि प्रमाद वृत्ति से किया जानेवाला प्राणव्यरोपण ही हिंसा है, केवल प्राणव्यरोपण नहीं—

“प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।”

—तत्त्वार्थ सूत्र, ७, ८

इसी प्रकार मूर्च्छा-आसक्ति ही परिग्रह है, केवल वस्तु नहीं—

“मूर्च्छा परिग्रहः ।”

तत्त्वार्थ, ७, १२

नदीसंतरण आदि अपवाद की स्थिति तो अपने में एक विशेष महत्त्व रखती है। अपवाद - जन्य हिंसा को संयम की सीमा में ही माना गया है। इसके लिए यत्र-तत्र आगम साहित्य में ‘नाइक्कम्मइ’ पाठ आता है। जिसका अर्थ है—ऐसा करते हुए भिक्षु अपने संयम का अतिक्रमण नहीं करता है, अर्थात् संयम में ही रहता है। पिण्ड नियुक्ति में भी ऐसा ही उल्लेख है। वहाँ तो अपवादजन्य हिंसा को निर्जरा का हेतु तक बताया गया है। कहा है — यतना के साथ विचरण करते हुए अध्यात्म विशुद्धि योग से युक्त भिक्षु को विराधना - हिंसा होने पर भी मुक्तिफल - प्रदात्री निर्जरा ही होती है—

“जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स ।

सा होइ निज्जरफला, मज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥”

—पिण्डनियुक्ति, ६७१

“या भवेद् विराधना अपवादप्रत्यया सा भवति निर्जराफला ।

“यतनयाऽपवादमासेवमानस्य या विराधना सा सिद्धिफला भवतीति ॥

—पिण्ड नियुक्ति टीका

उक्त सब उल्लेखों का यही निष्कर्ष है कि साधना में साधक की अन्तर्-वृत्ति का ही महत्त्व है। यदि वह शुद्ध है, राग-द्वेष से परे है, तो भिक्षु विशेष स्थिति में उदासीन - रुक्ष भाव से जो अपवाद मार्ग का—अपवाद भी मार्ग है, कुमार्ग नहीं—सेवन करता है, तो उससे ‘सब्बं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि’ सर्व सावद्य के प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है। अर्थात् दीक्षा के समय की गई हिंसा आदि के सर्वथा त्याग की प्रतिज्ञा का अपवाद आदि विशेष स्थिति में भंग नहीं माना जाता।

यावज्जीवन :

गृहस्थ की सामायिक भी वैसे तो सामान्यतः जीवन-पर्यन्त होती है। गृहस्थ का संयम चरित्ताचरित्त रूप है, अतः उसमें जितना अंश चारित्र्य का है, वह सामायिक रूप ही है, किन्तु वह

श्रमण-परम्परा की सामायिक-साधना :

२७

स्थूलतः है, सूक्ष्मतः नहीं, अंशतः है, समग्रतः नहीं। बारह व्रत में सामायिक की विशेष साधना जो होती है, वह एक मुहूर्तकाल की होती है, जीवन पर्यन्त नहीं। भिक्षु की सामायिक दीक्षा यावज्जीवन की होती है, सामान्यतः भी, विशेषतः भी। और वह सूक्ष्मतः एव समग्रतः ही होती है, स्थूलतः तथा अंशतः नहीं। दीक्षा की महा साधना का भार जीवन - पर्यन्त वहन करना, साधारण बात नहीं है। कुछ समय के लिए तो गुरु से गुरुतर भार को भी उठाया जा सकता है, किन्तु जीवनभर उसे उठाये रखना, वस्तुतः आन्तरिक वैराग्य की तीव्रता का ही प्रतिफल है।

तीन करण : तीन योग :

श्रमण की सामायिक दीक्षा 'तिविहं तिविहेणं' है। इसका अर्थ है—तीन करण और तीन योग। कृत, कारित, अनुमोदित, ये तीन करण हैं, और मन, वचन, काय, ये तीन योग हैं। इनके नौ विकल्प होते हैं, जिन्हें नव-कोटि कहा जाता है। कोटि अर्थात् प्रकार। अस्तु सर्वसावद्य प्रत्याख्यान के ये नौ भेद इस प्रकार हैं :

मन—१. मन से करूँ नहीं।

२. मन से कराऊँ नहीं।

३. मन से अनुमोदूँ नहीं।

वचन—१. वचन से करूँ नहीं।

२. वचन से कराऊँ नहीं।

३. वचन से अनुमोदूँ नहीं।

काय—१. काय से करूँ नहीं।

२. काय से कराऊँ नहीं।

३. काय से अनुमोदूँ नहीं।

यह नवकोटि अतीत, अनागत, वर्तमानकाल के सम्बन्ध से सप्तविंशति कोटि रूप बन जाती है। मुनि, हिंसादि सावद्य कर्मों का त्याग तीनों काल के लिए करता है। अतीत के त्याग का अर्थ है—पूर्वकृत पाप कर्मों से पूर्णतया अपना सम्बन्ध समर्थन हटा लेना—

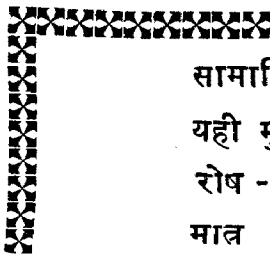
पूर्वजीवन का विसर्जन : पुनर्जन्म :

दीक्षा पाठ का अन्तिम शब्द 'अप्पाणं वोसिराम' है। इसका अर्थ है—आत्मा का त्याग। आत्म - त्याग से अभिप्राय है—पूर्व

जीवन का विसर्जन । भविष्य के संयमी जीवन के लिए पाप-कर्म से दूषित पूर्व - जीवन का परित्याग आवश्यक है । पूर्व सस्कारों का परिमार्जन हुए बिना नवीन जीवन के निर्माण का कोई अर्थ नहीं है । कितना ही सुन्दर रंग हो, गंदे वस्त्र पर कैसे चमक सकता है ? पुराना सड़ा - गला गन्दा जीवन त्याग कर स्वच्छ एवं भव्य नवीन जीवन को अपनाना, साधक का पुनर्जन्म है । और, यह वह आध्यात्मिक पुनर्जन्म है, जिसे साधक पूर्व दूषित जीवन की दृष्टि से मरण प्राप्त कर, स्वयं शुद्ध जीवन के रूप में दुबारा जन्म ग्रहण करता है । प्रस्तुत सूत्र के टीकाकार आचार्य नमि ने इसी सन्दर्भ में कहा है—

“आत्मानं = अतीत सावद्ययोगकारिणम् अश्लाघ्यम्...व्युत्सृजामि ।”

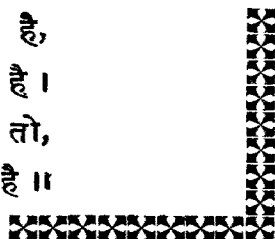
सितम्बर १९७३



सामायिक समभाव साधना,
यही मुक्ति का पथ अनुपम है ।
रोष - तोष से मुक्त चेतना,
मात्र यही सर्वोत्तम शम है ॥



कौन देश है, कौन पंथ है,
प्रश्न सभी ये अनपेक्षित है ।
सामायिक की सिद्धि हेतु तो,
सहज समत्वम् ही समुचित है ॥



समण शब्द का निर्वचन

भारत की प्राचीन संस्कृति चिर अतीत से ब्राह्मण और श्रमण नामक दो धाराओं में बहती आ रही है। भारत के सुसमृद्ध भौतिक व सामाजिक जीवन का प्रतिनिधित्व ब्राह्मण - धारा करती है, और उसके आन्तरिक आध्यात्मिक - जीवन का प्रतिनिधित्व श्रमण-धारा। ब्राह्मण बाहर में समाज परिष्कर्ता है, तो श्रमण अन्दर में आत्मा का संस्कर्ता है। यह विभाग ऐकान्तिक नहीं है, केवल मुख्य और गौण का ही प्रश्न है। वैसे दोनों ने दोनों ही प्रकार के जीवन को यथाप्रसंग निखारा है, संवारा है।

श्रमण का मूल प्राकृत रूप समण है। प्राचीन जैन-वाङ्मय में 'समण' का सहस्राधिक बार प्रयोग हुआ है। समण के संस्कृत रूपान्तर तीन होते हैं—श्रमण, समन और शमन। 'समण-संस्कृति' का वास्तविक मूल स्वरूप इन्हीं तीन संस्कृत रूपों पर से अभिव्यक्त हो जाता है।

१. 'श्रमण' शब्द 'श्रमु' धातु पर से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है 'श्रम' करना। श्रमण-संस्कृति का प्रथम विचार सूत्र है—व्यक्ति का विकास या ह्रास व्यक्ति के स्वयं के हाथों में है। कोई दूसरा उसे विकसित या अविकसित नहीं कर सकता। दूसरा कोई निमित्त भले ही हो जाए, पर कर्ता वह स्वयं ही होता है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। अतः साधना के क्षेत्र में श्रमण का अर्थ है, जो स्वयं के अपने श्रम से, पुरुषार्थ से, साधना से भव-बन्धनों को तोड़ रहा है, अपने को मुक्त कर रहा है। अपनी मुक्ति के लिए, स्व-स्वरूपोपलब्धि के लिए श्रमण अपने सिवा अन्य किसी से कोई भी अपेक्षा नहीं रखता है। उसका एक मात्र आदर्श है—'अपना श्रम, अपनी श्री।' जीवन के

सर्वांगीण उच्चतम अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए किया जाने वाला निर्मल श्रम ही साधक को कभी न बुझने वाला अमर प्रकाश प्रदान करता है ।

श्रमण अपने आराध्य वीतराग भगवान् की उपासन करता है, सद्-गुरु की भी । पर यह उपासना भिक्षा-वृत्ति की नहीं है कि किसी से कुछ लेना है । यह उपासना मात्र स्व-स्वरूप की पहचान के लिए है । जैसा शुद्ध स्वरूप उन महनीय भगवत् स्वरूप आत्माओं का है, वैसा ही मूलतः मेरा भी है । मैं आवरणों से मुक्त हो जाऊँ, तो मैं भी वैसा ही हूँ । जितने भी, और जो भी आवरण हैं, वे सब विभाव हैं, स्वभाव नहीं । एक समय जो सूर्य सघन काले बादलों से घिरा है, और दूसरे समय में वही सूर्य इन बादलों से मुक्त है । बस, इतना ही तो अन्तर है— भक्त और भगवान् में, साधक और सिद्ध में । श्रमण, साधक है, वह सिद्धत्व के लिए श्रम कर रहा है । अपने हाथ, जगन्नाथ ।

२. समण का दूसरा संस्कृत रूप है—समन । समन का अर्थ है—समभावी । 'समण' समन इसलिए है कि वह सबको आत्मवत् समझता है, सबके प्रति समभाव रखता है । दूसरों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार को कसौटो स्वयं को आत्मा है । जो बात, जो स्थिति, जो क्रिया अपने को बुरी लगती है, वह दूसरों के लिए भी बुरी है—

'आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।'

यही श्रमण के समग्र व्यवहारों का आधार स्तम्भ है । समण धर्म का यही मूल तत्त्व है कि न किसी के प्रति द्वेष करो, न घृणा । हम सबके हैं, सब अपने हैं । एक ही दृष्टि है, और वह है—समत्व की । भेद-भाव जैसा कुछ है ही नहीं, समण के अन्तर्मन में । कहा है आज की भाषा में भी ऐसा ही कुछ किसी ने—

“किस को देखें किस तरह हम,
किस को देखें किस तरह !
एक आलम है नजर में,
एक दुनिया दिल में है !!”

३. समण का तीसरा संस्कृत रूप 'शमन' भी होता है । अपनी वृत्तियों को, चित्त के उद्वेगों को शान्त रखना ही शमन है ।

समण शब्द का निर्वचन :

मानव का जीवन ऊँचा या नीचा, अच्छा और बुरा, अपनी चित्त-वृत्तियों के अनुसार ही होता है। अकुशल वृत्तियों से आत्मा का पतन होता है, और कुशल वृत्तियों से उत्थान। अकुशल अर्थात् दुर्वृत्तियों को उपशान्त करना और कुशल वृत्तियों का विकास करना ही समण-साधना का परम उद्देश्य है।

इस प्रकार श्रम, सम और शम—इन तीन तत्त्वों पर ही व्यक्ति तथा समाज का अभ्युदय एवं निःश्रेयस आश्रित है। बस, इतने-से में समण संस्कृति का समग्र निष्कर्ष समाहित हो जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से तीनों ही भाव—‘समण’ शब्द से ग्राह्य हैं, परन्तु ‘श्रमण’ शब्द अधिक प्रचलित है। और, उसमें साधना का स्वतः स्फूर्त ‘श्रम’ अर्थ स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

अनुयोग द्वार सूत्र के उपक्रमाधिकार में भाव सामायिक का निरूपण करते हुए ‘समण’ शब्द के निर्वचन पर भी काफी अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस प्रसंग की गाथाएँ बड़ी भावपूर्ण हैं—

“जह मम न पियं दुक्खं,
जाणिय एमेव सब्बजीवाणं ।
न हणइ न हणावेइ,
सममणइ तेण सो समणो ॥”

—‘जिस प्रकार दुःख मुझे अच्छा नहीं लगता है, उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है। यह समझ कर जो न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है, न किसी हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है, सर्वत्र सम रहता है, वह ‘समण’ है।

मूल सूत्र पाठ में ‘सममणइ’ शब्द आता है, उसकी व्याख्या करते हुए मलधार-गच्छीय आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं—

“सममणति सर्वजीवेसु तुल्यं वर्तते यतस्तेनासौ समण इति ।”

‘अण्’ धातु वर्तन अर्थ में है, और पूर्व का ‘सम’ उपसर्ग तुल्यार्थक है। अतः जो साधक सब जीवों के प्रति सम वर्तन अर्थात् समदर्शन एवं सम समाचरण करता है, वह समण है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही कहा है—

‘समयाए समणो होइ’—समता से ही समण होता है।

“णत्थि य से कोइ दोसो,
 पिओ य सव्वेसु जीवेसु ।
 एएण होइ समणो,
 एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥”

—जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको सभी जीव समान भाव से प्रिय हैं, वह समण है। यह समण का दूसरा पर्याय है।

टीकाकार आचार्य श्री हेमचन्द्र उक्त गाथा के ‘समण’ शब्द का निर्वचन ‘सममन’ करते हैं, जिसका सब जीवों के प्रति सम अर्थात् समान मन अर्थात् हृदय हो, वह ‘सममन’ कहलाता है। निरुक्त विधि के अनुसार ‘सममन’ के एक मकार का लोप होकर ‘समन’ हो गया है—

सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वात्, अनेन भवति समं मनोऽस्येति निरुक्त-
 विधिना ‘समना’ इत्येषोऽन्योऽपि पर्यायः ।’

“तो समणो जइ सुमणो,
 भावेण जइ न होइ पाबमणो ।
 सयणे य जणे य समो,
 समो य माणावमाणेसु ॥”

—समण सुमना होता है, वह कभी भी पाप-मना नहीं होता। अर्थात् जिसका मन सदैव प्रसन्न, स्वच्छ, निर्मल रहता है, कभी भी क्लुषित नहीं होता, जो स्व-जन एवं पर-जन में, तथा मान-अपमान में सर्वत्र सम रहता है, सन्तुलित रहता है, वह समण है।

सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत १६वें अध्यायन में भगवान् महावीर ने साधु के माहण, समण, भिक्खु और निग्गंठ— इस प्रकार चार सुप्रसिद्ध नामों का वर्णन किया है। प्रस्तुत में मात्र ‘समण’ शब्द के निर्वचन का ही प्रसंग है, अतः इनमें से केवल ‘समण’ शब्द का निर्वचन ही भगवान् महावीर के प्रवचनानुसार स्पष्ट किया जा रहा है।

—“जो सर्वत्र अनिश्चित है—आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक भोगोपभोग आदि की कामना नहीं करता है, किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता है, किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, काम-वासना के विकार

समण शब्द का निर्वचन ।

से भी रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा प्राणा-तिपात आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, उन सबसे निवृत्त रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, शुद्ध संयमी है, शरीर के मोह - ममत्व से रहित है, वह समण कहलाता है—

“एत्थ वि समणे अणिस्सए, अनियाणे, आदाणं च, अतिवायं च, मुसा-वायं च, बहिद्धं च, कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च, दोसं च इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पदोसहेऊ तओ तओ आदणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिया दंते दविए वोसट्टकाए ‘समणे’ ति बुच्चे ।”
—सूत्रकृतांग १, १६, २

करुणामूर्ति तथागत बुद्ध ने भी धम्मपद के धम्मट्टवग्ग में ‘समण’ शब्द के निर्वचन पर कुछ ऐसा ही प्रकाश डाला है—

“न मुण्डकेन समणो, अव्वतो अलिकं भणो ।

इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति” ॥६॥

—जो व्रतहीन है, जो मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं हो जाता । इच्छा-लोभ से भरा मनुष्य क्या श्रमण बनेगा ?

“यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सव्वसो ।

समितत्ता हि पापानं, ‘समणो’ ति पवुच्चति” ॥१०॥

—जो सब छोटे-बड़े पापों का शमन करता है, उसे पापों का शमनकर्ता होने के कारण से श्रमण कहते हैं ।

भारत की आध्यात्मिक-संस्कृति की साधना का समग्र सार, इस प्रकार श्रम, सम और शम की भावना को अपने में लिए हुए अकेले ‘समण’ शब्द में अन्तर्निहित है । यदि हम इधर-उधर अन्यत्र कहीं न जाकर मात्र एक ‘समण’ शब्द से ध्वनित होने वाले श्रम, सम एवं शम-भाव को ही अपने विचार एवं आचार में उतार लें, तो व्यक्ति का कल्याण तो होगा ही, व्यक्तिशः विश्व का कल्याण भी हो जाएगा । एक - एक बून्द मिलकर सागर बनता है, और एक-एक व्यक्ति मिलकर समाज तथा विश्व बनता है । अतः एक-एक व्यक्ति के कल्याणकारी निर्माण से विश्व-संगल का निर्माण हो सकता है ।

समण-धर्म की साधना का यह अर्थ नहीं कि सभी को भिक्षु हो जाना है। सभी का तथारूप भिक्षु होना असम्भव है। गृहस्थ भी मर्यादित रूप में अपनी जागृत - शक्ति के अनुसार जितना भी अंश समण - भावना का अपने जीवन में अवतरित एवं विकसित करता है, वह भी समण - धर्म की ही साधना है। धर्म दो नहीं, एक ही है। बाहर में धर्म के भले ही नाना रूप हों, किन्तु अन्दर में तो धर्म का ध्रुव एकत्व ही रहता है। आंशिक साधना के कारण ही बाहर में धर्म में नानात्व परिलक्षित होता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने भगवती २० श०, उ० ८ में साधु, साध्वी, श्रावक (गृहस्थ पुरुष) और श्राविका (गृहस्थ नारी) सबको मिलाकर 'समण-संघ' कहा है—

“तित्थं पुण चउव्वण्णे समण संघे, तंजहा—समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ ।”

सितम्बर १९७३



श्रमण भगवान् महावीर के सन्मति-तीर्थ में श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—चारों मोक्ष - मार्ग के साधक हैं, चारों का समन्वित रूप ही तीर्थ है। जिन-शासन में जाति, पंथ वर्ण, स्त्री-पुरुष आदि बाह्य भेदों का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व है—आत्म-गुणों का, अन्तर्-ज्योति का। इसलिए अध्यात्म साधना के क्षेत्र में श्रमणी का भी वही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो श्रमण को प्राप्त है और श्राविका की साधना भी उसी स्तर पर है, जिस स्तर पर श्रावक की साधना है। अतः लैंगिक आधार पर किसी एक को श्रेष्ठ और दूसरे को निम्न मानना नितान्त गलत है। अध्यात्म-साधना के उच्चतम शिखर का संस्पर्श कर श्रमणी अर्थात् साध्वी भी राग-द्वेष से मुक्त होकर सिद्धत्व को पा लेती है।



समण शब्द का निर्वचन :

पुण्य और धर्म की गुत्थी

जीवन के दो भाग :

हम अपने जीवन के मुख्यतया दो भाग देखते हैं। एक भाग भौतिक है, और दूसरा है आध्यात्मिक। भौतिक में क्या है? यह शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, मन है। यह जो हमारे अन्तर् में क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि विकृतियाँ तथा काम आदि अशुभ-वृत्तियाँ एवं सेवा - सद्भावना, परोपकार आदि जो शुभ वृत्तियाँ हैं, ये सब भी मूलतः हमारे जीवन की शुभ-अशुभ भौतिक परिणतियाँ हैं। और जो स्वर्ग - नरक, सुख - दुःख आदि जितने भी ये बाहर के रूप हैं, वे भी सब-के-सब भौतिक - क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं।

हमारे जीवन का दूसरा भाग आध्यात्मिक है। उसमें क्या आता है? उसमें आत्मा और आत्मा का स्वरूप आ जाता है। जब आत्मा का स्व-स्वरूप आता है, तो उसमें क्षमा, दया, विनय, सन्तोष, श्रद्धा, सत्य, शील, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि सब-के-सब गुण अध्यात्म क्षेत्र के दायरे में आ जाते हैं।

ये दोनों भाग कहाँ से आए ?

यहाँ दर्शन-शास्त्र का एक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है, कि यह जो भौतिक - भाग है, वह कहाँ से आया? और, जो आध्यात्मिक भाग है, वह कहाँ से आया? जीवन-क्षेत्र में इनकी उत्पत्ति के कारण परस्पर सर्वथा भिन्न दो हैं या एक है? आखिर बिना कारण के तो कोई कार्य होता ही नहीं। कोई-न-कोई कारण तो अवश्य होना चाहिए। भौतिक भाग के अन्तर्गत ये प्रश्न उठते हैं, कि यह हमारा शरीर कहाँ से आया? ये इन्द्रियाँ, यह मन, ये सब-के-सब कहाँ से आ कर खड़े हो गए और हमसे चिपट गए?

इसी प्रकार जीवन के सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग, ये सब कहाँ से आकर जन्म ले लेते हैं ? इसी तरह गरीबी-अमीरी, अपमान-सम्मान, सुरूपता-कुरूपता, यश-अपयश आदि सब - के - सब विकल्प कहाँ से आकर हमें घेर लेते हैं ?

अगर आप ठीक तौर से सोचें और गहराई से विचारें, तो ये सब भौतिक रूप और कुछ नहीं हैं, ये सब हमारी आत्मा के शुभा-शुभ विकल्पों में से ही जन्मे हैं। हमारी अन्तरात्मा के एक विकल्प से स्वर्ग खड़ा हो जाता है, तो दूसरे विकल्प से नरक उपस्थित हो जाता है। आत्मा में से ही ये सुख - दुःख आदि सारे भौतिक रूप जन्म लेते हैं। ये कहीं बाहर से नहीं आते।

शुभ-अशुभ विकल्पों का जन्मदाता—अन्तरात्मा :

वस्तुतः आत्मा को दो दृष्टियाँ हैं—एक दृष्टि बहिर्मुखी होती है, एक होती है अन्तर्मुखी। जो बाह्य-दृष्टि है—बाहर के आधार हैं—वहाँ या तो पाप की दृष्टि होगी, या होगी पुण्य की दृष्टि। इसके सिवा कोई तीसरी दृष्टि बाहर की नहीं है। हिंसा, घृणा, वैर, क्रोध, विकार, वासनाएँ, ये सब पाप के विकल्प हैं। यश, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, स्वर्ग, सम्मान, स्वस्थ शरीर, सुबुद्धि आदि जितने भी विकल्प हैं, ये सब पुण्य के विकल्प हैं। विश्व का प्रत्येक प्राणी अमुक अंश में पाप के विकल्प ले कर आता है, और अमुक अंश में पुण्य के। हिंसा, घृणा, द्वेष आदि जब प्राणी के अन्तर् में फूट पड़ते हैं, तो अन्तरात्मा पाप की भावना से लिप्त होता है; जिसका प्रतिफल वैसे ही कुरूप शरीर, रोग, अपयश तथा नरक आदि के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। पाप की भावना एवं पाप की क्रिया से उपर्युक्त दुःखरूप स्थितियाँ प्राप्त होती हैं।

इसी प्रकार मान-अपमान, यश-अपयश, आदर-अनादर भाव आदि भी हमारी चित्त-वृत्तियों के ही भौतिक अंश हैं। इनमें से जो खराब अंश हैं, वे सब पाप के अंश हैं और जो अच्छे अंश हैं, वे सब पुण्य के भाग हैं। ये सब चीजें हमारी शुभाशुभवृत्तियाँ—आसुरी और दैवी, काम कर रही हैं।

पाप और पुण्य की पहिचान :

पाप की पहिचान तो बहुत ही आसानी से हो जाती है। हिंसा, भूठ, चोरी, बेईमानी, काम-वासना, किसी को पीड़ा देना, किसी को पुण्य और धर्म की गुत्थी :

नुकसान पहुँचाना आदि सब बातें आमतौर पर पाप - वृत्ति के रूप में स्वीकार की जाती हैं। इसलिए पाप को पहचानने में उतनी दिक्कत नहीं है, जितनी पुण्य को पहचानने में होती है। जिन्होंने तत्त्व-दर्शन के मूल को पकड़ने की कोशिश नहीं की, वे पुण्य और धर्म में कोई अन्तर नहीं मानते। उनसे आप पूछेंगे, कि पुण्य और धर्म में क्या अन्तर है? तो वे यही कहेंगे, कि इसमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही चीज हैं। लेकिन, गहराई से विचार करें, तो ये दोनों दो भिन्न स्थितियाँ हैं। धर्म आत्मा की शुद्ध मूल स्थिति है और पुण्य आत्मा की बाह्य विकृत स्थिति है। इस प्रकार धर्म आत्मा का स्वरूप हुआ, इसलिए वह आध्यात्मिक तत्त्व हुआ, यानी वह आत्मा का शुद्ध स्वरूप हुआ। अगर, पुण्य और धर्म को एक मानते हैं, तो उसका मतलब यह होता है कि शुद्ध में से वैकारिक-अशुद्ध तत्त्व पैदा हुआ। आत्मा में जो निष्काम-भाव, वीतरागभाव जागृत होता है, वही शुद्धता है, वही धर्म - तत्त्व है। और कोई स्थिति नहीं होती है, धर्म की। जब धर्म और पुण्य दोनों को एक मान लिया जाएगा, तो उसका अर्थ होगा—धर्म ही सब-कुछ करता है। वह आत्म - जागृति भी करता है और वही हमारी भौतिक-जागृति का कार्य भी, तथा भौतिक - जागृति के अनुरूप स्वर्ग आदि का निर्माण भी वही करता है। दोनों को एक मानने पर यह अर्थ होगा कि मुक्ति भी धर्म से प्राप्त होती है और स्वर्ग भी धर्म से प्राप्त होता है। आखिर स्वर्ग तो संसार ही है। शास्त्रों में स्वर्ग का जो वर्णन मिलता है, वह ठीक मानव-लोक जैसा ही है। मर्त्य-लोक के समान वहाँ भी धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि हैं और वे ही ऊँच-नीच तथा मान - अपमान आदि व्यवहार हैं। वहाँ भी कुछ गुलाम हैं, जो दूसरों की सेवा में संलग्न हैं और कुछ उन पर शासन कर रहे हैं। चाहे आप वैदिक धर्म - शास्त्रों को पढ़ लें, चाहे जैन पुराणों या आगमों को पढ़ लें, सबमें स्वर्ग का लगभग मिलता-जुलता वर्णन मिलेगा। आध्यात्मिक रूप से स्वर्ग का वर्णन कहीं नहीं मिलता।

धर्म और पुण्य के स्वरूप में अन्तर :

प्रश्न यह होता है—ऐसे भौतिक दृष्टि वाले स्वर्ग की प्राप्ति धर्म जैसी आध्यात्मिक दृष्टि से कैसे होगी? जब आप यह कहते

हैं कि धर्म आत्मा को बन्धन से मुक्त करता है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि विकारों से हमें मुक्ति दिलाता है। यानी वह आपकी आत्मा पर लगे हुए कर्म के मैल को साफ करके आपकी आत्मा का शुद्ध रूप जागृत करता है। तो क्या वही धर्म आत्मा को कर्म - बन्धन में बांधेगा ? उसे अशुद्ध बनाने या कर्म-बन्धन के फल-स्वरूप प्राप्त होने वाले स्वर्ग को दिलाने का काम भी करेगा ? यानी जो धर्म एक तरफ मुक्ति का काम करता है, आपको बन्धनमुक्त करता है, आपके स्वरूप को विकृत करने वाले राग - द्वेष, काम-क्रोध, विकार - वासनाओं, कामनाओं आदि से आपको मुक्त, निष्काम और वीतरागी बनाता है, दूसरी तरफ वही धर्म आपको स्वर्ग भी दे, धन भी दे, सुन्दर शरीर, सुन्दर रूप, सुन्दर पत्नी या पति, शारीरिक सुख, अच्छे मित्र और ऐश्वर्य भी दे, आप जिधर भी जाएँ, आपको जय - जयकार भी दिलाए ! ये दोनों विरोधी चीजें एक साथ कैसे हो सकती हैं ? एक ओर वह आपको मुक्त भी बनाए और दूसरी ओर वह आपको बन्धन में भी डाले। क्योंकि एक ही कारण से दो विरोधी कार्य कैसे हो सकते हैं ? यदि वह बन्धन का कारण है, तो बन्धन ही होना चाहिए और अगर वह मुक्ति का कारण है, तो मुक्ति ही होनी चाहिए। ऐसा कैसे होगा कि धर्म आपको बन्धन में भी डाल दे और मुक्ति भी दे। आपको इस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

आप कहें कि सूर्य प्रकाश भी देता है और अन्धकार भी, तो यह कैसे माना जा सकता है ? सूर्य तो प्रकाश ही देगा, अन्धकार देने का प्रश्न ही नहीं है, वह तो सदा प्रकाशमान रहता है। आप कहें कि आग गर्मी दे रही है और ठंडक भी पहुँचा रही है, तो ये दोनों विरोधी कार्य अग्नि कैसे कर देगी ? इसी प्रकार धर्म के भाव में एक प्रकार से सर्वथा शुद्ध आत्म - तत्त्व का प्रकाश है, उस से भौतिक वासना का अन्धकार कहाँ से पैदा होगा ? क्योंकि एक ही कारण से दो परस्पर विरोधी कार्य कभी भी पैदा नहीं होते।

धर्म का फल स्वर्गादि या मुक्ति ?

अभिप्राय यह है कि जब तक आप जैन-दर्शन के मूल को नहीं पकड़ेंगे, तब तक आपको तत्त्व - ज्ञान का स्पर्श नहीं होगा। एक

उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कर दूँ। एक गृहस्थ है, उसने गृहस्थ-धर्म में ब्रह्मचर्य का पालन करना शुरू किया। बाद में वह साधु बन गया और अखंड ब्रह्मचार्य का पालन करने लगा। यह धर्म हुआ। शास्त्रों के वर्णन के अनुसार वह साधु मर कर स्वर्ग—देवलोक में गया। वहाँ उसे हजारों—लाखों अप्सराएँ, देवांगनाएँ मिलीं। मैं पूछता हूँ आपसे, ब्रह्मचर्य - धर्म के पालन के कारण उस साधु को यह संसार - वर्धक अब्रह्मचर्य - मूलक फल कैसे मिला ? ब्रह्मचर्य का मतलब है—शरीर सौन्दर्य की आसक्ति, मन की कामुकता, वासना और इन्द्रिय विकारों का त्याग कर के परब्रह्म - परमात्म-भाव में रमण करना, शुद्ध आत्म-स्वरूप में लीन होना। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य शुद्ध आत्म - परिणाम है, उसमें इच्छा, वासना या कामना कुछ भी नहीं है, शुद्ध निष्काम-भाव - आत्मभाव है एक अलौकिक प्रकार का। ऐसी स्थिति में तथाकथित शास्त्र, पुराण या आपकी प्रचलित मान्यता के अनुसार उक्त साधु को ब्रह्मचर्य-धर्म के पालन के कारण देवलोक मिला, जहाँ उसे हजारों अप्सराएँ मिलीं, ऐसा कहना मेरी दृष्टि में धर्म का दिवालियापन है। यानी निष्काम-भावना के प्रतीक, शुद्ध आत्म-भाव के द्योतक ब्रह्मचर्य से ये स्वर्ग की कामनाएँ, वासनाएँ, इच्छाएँ कैसे फूट पड़ीं ? प्रत्युत ब्रह्मचर्य से तो इन वासनाओं-कामनाओं से मुक्त होने के लिए धर्म की उपासना कैसे की जाएगी ? क्योंकि आप साधक धर्म से संसार की वासनाओं से मुक्ति का काम करना चाहें, परन्तु वह फँसाए आप को बन्धन और वासनाओं के जाल में, तो भला धर्म-साधना कोई क्यों करेगा ? यह कैसी धर्म-साधना हुई कि आपने यहाँ एक पत्नी छोड़ी, तो वहाँ अगले जन्म में हजारों पत्नियाँ मिल गईं !

ऐसे धर्म का आचरण कोई क्यों करेगा ?

विचार कीजिए, साधु ने पूर्णरूप से परिग्रह का त्याग किया, लेकिन दूसरी तरफ आप कहते हैं, उस साधु को अगले जन्मों में चक्रवर्ती या राजा का पद मिलेगा या उसे इन्द्रासन पर बिठाया जाएगा और इतना वैभव, ऐश्वर्य, खजाना या सोना मिलेगा, इतने रत्न और महल मिलेंगे। यदि ऐसा है, तो मैं कहूँगा - धर्म अपरिग्रह-वृत्ति में है। इसी अपरिग्रह-वृत्ति के रूप में संसार के वैभव,

ऐश्वर्य और धन की कामना का त्याग किया, तो फिर बाद में धन की कामना कहाँ से पैदा होगी ? और शरीर की वासनाओं का त्याग किया, तो बाद में शरीर की वासनाएँ कहाँ से जन्म ले लेंगी ? यह तो उलटी गंगा बह रही है कि साधना की विनय के लिए, और पैदा होने लगे अभिमान; साधना की संतोष के लिए, और पैदा होने लगे लोभ । धर्म में से अगर ये चीजें जन्म लेती हैं, तो फिर धर्म क्या ही क्यों ? यह तो वैसे ही बात हुई, कि चले थे हिमालय की यात्रा करने और पहुँच गए समुद्र के तट पर । यानी हम चले थे, सांसारिक वासनाओं से मुक्ति के लिए, वीतरागता, त्याग और वैराग्य के लिए, लेकिन पहुँच गए संसार की वासनाओं के केन्द्र में, संसार के धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य के अम्बार में । संसार के भोगों के चक्कर में और भी अधिक फँस गए । मगर धर्म का यह जो रूप है, वह यथाथं नहीं है । धर्माचरण के प्रयोजन पर श्रमण भगवान् महावीर ने तथा हमारे प्राचीन आचार्यों ने बहुत ही उत्तम विचार प्रस्तुत किए हैं ।

धर्म से देवलोक पाने का समाधान :

आचार्य गणधर सुधर्मा ने कहा है कि तुंगिया नगरी में एक बार कुछ श्रावकों में एक तत्त्व - चर्चा छिड़ गई, कि साधु और श्रावक मर कर देवलोक में क्यों जाते हैं ? इस पर बहस चल पड़ी कि साधु और श्रावक दोनों चले तो थे मुक्ति के लिए और पहुँच गए देवलोक में, ऐसा क्यों होता है ? इस चर्चा में वे काफी उलझ गए । उस समय भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के कुछ साधु उस नगरी में आए हुए थे, श्रावकों ने उनके सामने यह प्रश्न रखा, तो उनमें से कुछ ने समाधान करते हुए कहा कि—“पूर्वजन्म के जो कर्म भोगने बाकी रह जाते हैं, उन्हें भोगने के लिए उन्हें मर कर देवलोक में जाना पड़ता है । नहीं तो, देवलोक में जाने का कोई मतलब नहीं है, साधक के लिए ।” बात तो ठीक है कि पहले जन्म के बचे हुए कर्मों को भोगने के लिए साधक को स्वर्ग की यात्रा करनी पड़ती है । मगर, एक बात जरूर है कि देवलोक की जो आयु है, वह जन्म - जन्मान्तर की बंधी हुई नहीं होती है । पहले जन्म की बंधी हुई आयु तो इस जन्म में भोग ली । बाकी के दूसरे

पुण्य और धर्म की गुत्थी :

सात कर्म तो जन्म-जन्मान्तर के इकट्ठे हो सकते हैं, लेकिन आयु-कर्म जन्म - जन्मान्तर से बाँध कर नहीं रखा जाता। यह एक सिद्धान्त-सिद्ध बात है। आयुकर्म ऐसे नहीं होते कि उन्हें हृष एक के बाद एक जन्म में भोगते चले जाएँ। इसलिए यह जो समाधान किया गया था, कि सातावेदनीय आदि जो कर्म शेष रह गए, उन्हें भोगने के लिए ही साधक देवलोक में जाते हैं, यह बात सैद्धान्तिक दृष्टि से पूर्ण रूप से घटित नहीं होती, क्योंकि आयुकर्म पहले का कोई है नहीं, जिसको भोगने के लिए स्वर्ग में जाया जाए।

इसी प्रश्न को समाधान के लिए जब भगवान् महावीर के सामने रखा गया, तो उन्होंने यों समाधान किया कि साधक चलता तो मुक्ति के लिए ही है, उसका लक्ष्य तो मुक्ति ही है, लेकिन वह आत्म-भाव में सतत रह नहीं सकता। इसलिए जितने अंश में वह आत्म-भाव में नहीं रहता, उतने अंशों में रागभाव के कारण उसे स्वर्ग मिलता है। आत्म - भाव में लीन रहना क्या है? इसका समाधान भी उन्होंने कर दिया कि किसी भी प्रकार की कामना, वासना या बाहर के भौतिक जगत् की किसी चीज के चक्कर में उसका मन न पड़े। इस प्रकार की निष्काम-वृत्ति ही मुक्ति का हेतु है। जब तक साधक आत्म-भाव में लीन रहता है, तब तक समझो कि वह मुक्ति की ओर चल रहा है, निरन्तर अपने आपको बन्धन से मुक्त करता चला जा रहा है। लेकिन, जब साधक आत्म-भाव में नहीं रहता, किसी-न-किसी प्रकार की कामना, सांसारिक वृत्ति या कोई-न-कोई राग उसके अन्दर पैदा हो जाता है, तो वह राग, चूँकि संयमी साधु के जीवन में अप्रशस्त (अशुभ) नहीं होता, प्रशस्त होता है; जो उसे स्वर्ग में ले जाता है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि मुक्ति के हेतु अलग हैं और स्वर्ग-संसार के हेतु अलग हैं। इस समाधान से धर्म और पुण्य का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

आत्मा के निज गुणों के कारण बन्धन क्यों ?

इसी बात का अन्य आचार्यों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् - चारित्र—ये तीनों आत्मा के निज गुण हैं। लेकिन, यह कहा जाता है कि जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाएगा, वह अमुक देवलोक में, सम्यग्ज्ञान

प्राप्त हो जाने पर अमुक देवलोक में तथा सम्यक्चारित्र का पालन करने पर अमुक देवलोक में जाएगा। सिद्धान्त की दृष्टि से यह बात गलत है। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय जो आत्मा के निज गुण हैं, वे अमुक-अमुक बन्धनों से मुक्त होने पर प्राप्त हुए हैं। मिथ्यात्व का बन्धन, जो आत्मा पर पड़ा था, उसे तोड़ कर सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ। मिथ्या-ज्ञान के बन्धन को तोड़कर सम्यग्ज्ञान मिला। इसी प्रकार मोह का जो बन्धन आत्मा पर पड़ा हुआ था, उसे तोड़ा तो चारित्र प्राप्त हुआ। क्रोध से क्षमा में आ गए; अभिमान से नम्रता में आ गए; लोभ से सन्तोष में आए; हिंसा से अहिंसा में आ गए, सांसारिक मूर्च्छा - आसक्ति से अनासक्ति में आ गए— यह सब चारित्र है, जो बन्धनों से मुक्त होने पर प्राप्त होता है।

अगर सम्यग्दर्शन आदि साधक को दुबारा बन्धनों में डाल दें, स्वर्ग के अमुक बन्धनों में डालते फिरें, साधक के अन्दर राग-भाव पैदा कर दें, तो इसका अर्थ यह हुआ—कि वीतरागता ने राग पैदा किया, निष्कामता ने सकाम-वृत्ति पैदा कर दी। इसी दृष्टि से आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

“येनांशेन हि ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।”

अर्थात्— ‘जितने अंश में जिस आत्मा के अन्दर ज्ञान की ज्योति जल रही है, उतने अंश में उस आत्मा में बन्धन नहीं हैं, लेकिन जितने अंश में ज्ञान के साथ राग-भाव चल रहा है, उतने अंश में उस आत्मा में बन्धन हैं।’

यही बात सम्यक्-दर्शन के लिए कही गई, कि जितने अंश में आत्मा में सम्यक् - दर्शन है, शुद्ध आत्मस्वरूप का भाव है, आत्म-ज्योति प्रदीप्त है, वहाँ तक आत्मा में कोई बन्धन नहीं है, लेकिन सम्यक् - दर्शन के साथ-साथ जितने अंशों में आत्मा में राग है, वह राग ही आत्मा के बन्धन का हेतु बनता है। इसी प्रकार चारित्र के सम्बन्ध में उन्होंने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—

“येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।”

जितने - जितने अंश में आत्मा में चारित्र—वीतरागभाव है, अनासक्तिभाव है, निष्कामता है, उतने - उतने अंश में बन्धन नहीं

पुण्य और धर्म की गुत्थी :

४३

है, मगर जितने अंश में राग का अंश बाकी रहा है, राग साफ नहीं हो पाया है, उतने अंशों में वह राग का अंश ही आत्मा के लिए बन्धन का हेतु बनता है। वह रागांश साधक को चाहे इन्द्र बना दे, चक्रवर्ती बना दे अथवा भले ही किसी अन्य उच्च पद पर बिठा दे, लेकिन वह है तो बन्धन ही।

इस विषय में गहराई से चर्चा करने से पहले मैं आपसे एक बात और कहना चाहता हूँ कि आमनौर पर सम्भव है, बहुत से साधक कुछ विशिष्ट ग्रन्थों को पढ़ नहीं पाते हैं, लेकिन कम-से-कम कुछ चर्चाएँ तो सुनते ही रहते हैं। सम्भव है, यहाँ पर बैठे हुए तत्त्वचर्चा में रुचि रखने वाले या कुछ ग्रन्थों का अभ्यास और मनन करने वाले देवगति प्राप्त होने के कारणों को तो जानते ही होंगे ? न जानते हों तो तत्त्वार्थसूत्र का वह सूत्र मैं ही प्रस्तुत कर देता हूँ—

‘सरागसंयम - संयमासंयमाऽकामनिर्जरा - बालतपांसि देवस्य’

अर्थात्—देवगति प्राप्त होने के चार कारण हैं—१. सरागसंयम, २. संयमाऽसंयम, ३. अकामनिर्जरा और ४. बालतप। इस सूत्र के अनुसार देवगति का सर्वप्रथम हेतु ‘सरागसंयम’ है। जैनाचार्यों ने भी देवगति का कारण सरागसंयम को माना है। वस्तुतः सरागसंगम क्या है ? इस पर एक बात तो स्पष्ट रूप से आपके ध्यान में आ गई होगी कि केवल (निखालिस) संयम देवगति का हेतु होता तो ‘सराग’ विशेषण लगाने की जरूरत ही क्या थी ? लेकिन राग विशेषण यह प्रगट करता है कि राग-सहित जो संयम है, वह देवगति का हेतु है। आप इसका आशय समझ गए होंगे कि खाली संयम देवगति का कारण नहीं है, अपितु ‘सरागसंयम’ देवगति का कारण है। अन्यथा, इतना बड़ा विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी ? परन्तु एक बात इसमें अवश्य फलित होती है कि राग नहीं, संयम ही (फिर भले ही वह राग-सहित हो) देवगति का हेतु हुआ। बन्धन का मुख्य हेतुत्व संयम पर ही आरोपित हो जाता है।

इस दृष्टि को समझने के लिए आपको व्याकरण की गहराई में उतरना पड़ेगा। व्याकरण में ‘विशेषण’ और ‘विशेष्य’ दोनों में विशेष्य मुख्य और विशेषण गौण माना जाता है। जैसे काला

घोड़ा कहने में घोड़ा विशेष्य मुख्य है, काला विशेषण गौण है। वैसे ही 'सराग-संयम' कहने में संयम-विशेष्य मुख्य है और सराग-विशेषण गौण है। इसलिए यहाँ देवगति का एक कारण चाहे सराग-संयम हो, फिर भी देवगति के हेतु में मुख्यता संयम विशेष्य की हुई, और गौणता सराग - विशेषण की। मतलब यह है कि देवगति के हेतु में संयम की बलवत्ता आ गई। यानी संयम' जो है, वह देवगति का मुख्य हेतु रहेगा और 'सराग' जो है, वह विशेषण के रूप में गौणरूप में रह सकता है। मैं समझता हूँ, शब्द-शास्त्र की बारीकी के रूप में यह बात आपके ध्यान में आ गई होगी।

इस दृष्टि से अगर 'संयम' को ही मुख्यतया देवगति का हेतु मानें तो फिर वही घपला आ खड़ा होगा। मेरा विचार इससे आगे चलता है। मैं इसका समाधान यों करता हूँ कि 'सराग-संयम' शब्द व्यवहार - भाषा का है, निश्चय-भाषा में ऐसा प्रयोग नहीं होता। व्यवहार - भाषा में तो यों कहा जाता है—रागसहित जो संयम है, वह संयम देवगति का हेतु हो गया, लेकिन निश्चय भाषा में यों कहा जाएगा—संयमसहित जो राग है, वह देवगति का हेतु है। आखिर जो बन्धन है—देवगति की प्राप्ति है, उसमें संयम तो कथमपि हेतु है ही नहीं, हेतु तो राग ही हो सकता है। लेकिन कौन-सा राग? अशुभराग नहीं, शुभराग ही होना चाहिए। इसीलिए शुभराग को गतार्थ करने के लिए संयमसहित राग कहा गया, और शुभराग को ही स्वर्ग का, शुभ बन्धन का कारण ठहराया गया। अगर आप रागसहित संयम को देवगति का हेतु बता-एँगे, तो तत्त्वदृष्टि से समाधान नहीं होगा, वह एक तरह का औपचारिक (उपचार) वचन होगा, निश्चय वचन नहीं। इस उपचार-वचन को समझने के लिए एक दृष्टान्त ले लें—किसी भाई ने घी गर्म किया या दूध गर्म किया। वह उबलता या उफनता हुआ घी या दूध उसके शरीर पर गिर पड़ा, उसका शरीर जल गया। इस पर लोग कहते हैं—'अजी, वह घी से जल गया या दूध से जल गया। सोचिये जरा, 'घी या दूध से जल गया' यह जो हमारी भाषा है, वह व्यवहार - भाषा है या निश्चय-भाषा? देखा जाए, तो यह व्यवहार-भाषा है। अगर कहें कि वह व्यक्ति घी या दूध से जल गया था, तो सभी आदमी घी या दूध से क्यों नहीं जल जाते? क्या

घी बथवा दूध सबको जलाने वाला है ? ऐसा तो नहीं है । तब तत्त्व-दृष्टि से कहा जाता है कि वह व्यक्ति गर्म घी या गर्म दूध से जल गया । इसका मतलब यह हुआ कि घी या दूध जलाता तो नहीं है, इन दोनों का जलाने का स्वभाव भी नहीं है, बल्कि ऐसा कहना चाहिए कि घी या दूध के अन्दर जो अग्नि-तत्त्व समा गया था, आम की जो गर्मी उनमें प्रविष्ट हो गई थी, उसीने ही जलाया । घी या दूध नहीं जलाता, लेकिन उसके अन्दर रही हुई या घुसी हुई अग्नि जलाती है । यह तो उपचार से कहा गया है कि 'घी या दूध'से वह जल गया । इसी प्रकार 'सरागसंयम से देवगति होती है' इस वाक्य में भी समझ लेना चाहिए कि संयम से देवगति में कोई नहीं पहुँचता, लेकिन संयम के अन्दर जो राग होता है, उससे पहुँचता है । यह वाक्य भी उपचार-वचन है । निष्कर्ष यह निकला कि संयम में जो रागभाव घुस गया है, जो कामनाएँ, भौतिक वासनाएँ प्रविष्ट हो गई हैं, संयम - साधना करते समय साधक जिस राग को तोड़ नहीं पाया है, उसी के कारण वह स्वर्ग में पहुँचता है । जबकि वह राग संयम के साथ रहने के कारण बशुभ तो नहीं रहा, शुभ हो गया । लेकिन बन्धनकारक वस्तु जो है, वह राग ही है ।

इसके विपरीत यदि हम यों कह दें कि संयम से स्वर्ग मिलता है, तो सारा सिद्धान्त उलटा हो जाएगा । फिर तो संयमपालन से कदापि मुक्ति नहीं मिल सकेगी । इसलिए यह तो निश्चित है कि संयम से कभी स्वर्ग नहीं मिल सकता है, वह मिलता है—संयम के साथ-साथ संलग्न लिपटे हुए राग से । अगर आप इस विचार को ध्यान में लाएँगे तो, हमारा आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टिकोण बिलकुल स्पष्ट हो जाएगा ।

धर्म और पुण्य का अन्तर :

जैनधर्म की इस अद्भुत चिन्तनप्रणाली को ठीक से समझ लें, तो आपको धर्म और पुण्य का अन्तर स्पष्टतया समझ में आ जाएगा । बाहर की जितनी भी क्रियाएँ हैं, उनमें धर्म और पुण्य में कोई अन्तर नहीं है । स्थूल-दृष्टि वाले को धर्म की क्रियाएँ और पुण्य की क्रियाएँ अलग-अलग लगती हैं, लेकिन वे अलग - अलग हैं नहीं । वही क्रिया दान की है, वही शील की है, वही त्याग की है

चिन्तन के शरोखे से :

और तप को है। वही सामायिक, व्रताचरण, प्रत्याख्यान आदि की क्रियाएँ धर्म की हैं, और ये ही सब क्रियाएँ पुण्य की हैं। मतलब यह है कि जितनी भी बाह्य क्रियाएँ हैं, वे धर्म और पुण्य की एक-सी हैं। फर्क केवल भावना का है। बाह्य - क्रियाएँ या साधनाएँ करते - करते अगर आत्मा निष्काम होती जा रही है, अगर उसमें वीतरागभाव जागृत हो रहे हैं, तो जो भी क्रिया या साधना साधक कर रहा है, उसके पीछे संसार की कोई भी कामना या अन्य कोई सूक्ष्म वासना उसके मन में नहीं रह गई है, निष्कामभाव से सभी क्रियाएँ या साधनाएँ चल रही हैं, तो वे सब धर्म के दायरे में चली जाएँगी, उन साधनाओं या क्रियाओं से कर्म-बन्धन टूटेगा, निर्जरा होगी, वे मुक्ति का कारण बनेगी। परन्तु जहाँ किसी भी पवित्र धर्मकरणी या बाह्य क्रिया या साधना के साथ संसार की कोई लौकिक कामना है, अहंभावना है, चाहे वह सूक्ष्मरूप से ही क्यों न हो, उसको ठीक तरह से साफ नहीं किया गया है, तो वह जो रागादि विकार का अंश है, वह पुण्य बनेगा। निष्कर्ष यह है कि यदि आप दान, शील, तप और व्रत का आचरण तथा धार्मिक क्रियाकाण्ड आदि किसी कामना, इच्छा, तमन्ना की दृष्टि से नहीं, किन्तु निष्कामभाव से करते हैं, आपके भीतर एक ही लक्ष्य है— इस आत्मा में परमात्मशक्ति जगाएँ, आत्मशुद्धि द्वारा आत्मकल्याण करें, और कोई भौतिक चीज आपके मन के किसी कोने में नहीं है, तो वह आचरण या क्रिया-काण्ड धर्म का रूप लेगा, वह आपके लिए बन्धन से मुक्ति का कारण बनेगा। आप संसार के बन्धनों से मुक्त हो कर एक दिन परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेंगे। किन्तु अगर आपके मन में इन्हीं दानादि के आचरणों या क्रियाकाण्डों के पीछे किसी अंश में राग पडा है, कोई इच्छा या तमन्ना आपके मन के किसी कोने में पड़ी है, तो वे सब धर्म के अंश न बन कर, पुण्य के अंश बनेंगे। पुण्य का अंश बनने का अर्थ यह है कि वह क्रिया या दान, शील, तप आदि का आचरण हमें भौतिक ऐश्वर्य की ओर ले जाएगा। फिर चाहे वह स्वर्ग में ले जाए, चक्रवर्ती पद पर ले जाए, इन्द्रासन पर ले जाए, चाहे और किसी पद पर ले जाए, मगर वह पद शुद्ध नहीं होगा, वह निर्मल—निष्कलंक नहीं होगा, उसके अन्दर मैल होगा। संभव है, वह मैल आपको एक दिन पाप

की तरफ भटकाए या फिर आपको उसी पद पर ले जा कर उसी संसार में भटकाए ।

देवगति से सीधे मुक्ति नहीं :

यही कारण है कि जैन-सिद्धान्त के अनुसार देवगति से सीधे कोई मुक्ति में नहीं जा सकता । आम लोगों की ऐसी धारणा है कि छब्बीसवें देवलोक से तो मुक्ति निकट ही है । २६वें देवलोक के देव तो सीधे ही वहाँ से मुक्ति में चले जाएँगे, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है । मुक्ति के लिए मनुष्य-गति में आना ही पड़ेगा । मनुष्य जन्म की अपेक्षा साधारण जनता देव-जन्म को उत्कृष्ट मानती है, पर ऐसा मानना यथार्थ नहीं है । चूँकि देवलोक में मन की इच्छाओं, राग व वासनाओं को तोड़ा नहीं जा सकता, इस कारण उन्हें तोड़ने के लिए मनुष्य-गति में आना जरूरी है । और, मनुष्य-गति में ही उन्हें तोड़ कर मुक्ति में पहुँचा जा सकता है ।

धर्म का निर्धूम दीप आत्मा में जलाओ :

इस दृष्टि से धर्मक्रिया या व्रताचरण करते समय साधक को भौतिक ऐश्वर्य या कामनाओं को कतई स्थान नहीं देना चाहिए । उनके न मिलने या मिलने की सम्भावना होने पर भी उनसे पीठ फेर कर ठेलते जाने से वे सब तुच्छ होते जाएँगे । आचार्यों ने इस दिशा में सुन्दर संकेत किया है कि जब साधक अपनी अन्तरात्मा में धर्म के निर्मल भाव जगा लेगा, तब उसे संसार के भौतिक पदार्थ या ऐश्वर्य नितान्त तुच्छ जान पड़ेंगे । इस अद्भुत धर्म-कला को प्राप्त करने के लिए आपको किसी भौतिक - साधन, धन-वैभव या ऐश्वर्य की जरूरत नहीं पड़ेगी । जरूरत है, एकमात्र धर्म का निर्धूम अखण्ड दीप जलाने की, जिसके लिए न बाती चाहिए, न तेल, न दियासलाई और न मिट्टी या स्वर्ण का दीया ही । क्योंकि मिट्टी आदि के दीये से ज्योति जरूर होगी, लेकिन उसमें से निकलेगा धुँआ ही, जिससे कालिख पुत जाएगी । जबकि आत्मा में धर्म दीपक जलने से प्रकाश-ही-प्रकाश होगा । उसमें से वासना - कामना का धुँआ नहीं निकलेगा, वह कभी बुझेगा भी नहीं । अतः आत्मा में धर्म का निर्धूम दीप जलाओ, इसी से कल्याण होगा ।

मई १९७४



सम्यक्त्व का यथार्थ दर्शन

साधना के अनेक रूप :

विश्व में धर्म - परम्पराएँ एवं उनकी अपनी - अपनी साधनाएँ, इतने अधिक रूप में हैं कि उनकी कोई एक निश्चित परिगणना कर लेना सहज नहीं है। अन्य धर्म - परम्पराओं की बात हम एक ओर छोड़ भी दें। जैन-धर्म को ही लीजिए—बाह्य रूप में देखते हैं, तो उसमें भी कोई एक रूप नहीं है। उसमें भी अनेक शाखाएँ हैं, प्रति - शाखाएँ हैं। आप जानते हैं—दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी आदि शाखाएँ किस रूप में विस्तृत हैं ? उक्त शाखाओं में भी अन्य अनेक प्रतिशाखाएँ भी हैं और उनके आचार-विचार अनेक रूपों में विभाजित हैं। यह वैविध्य इस प्रकार सघन और विस्तृत हो गया है कि उसने एक विशाल जंगल का रूप ले लिया है। समय - समय पर इनमें परस्पर टकराव भी होता रहता है। यह टकराव कभी नग्नता का होता है, कभी वह वस्त्र - धारण का। यह तो मैंने केवल दो रूप उदाहरण के रूप में उपस्थित किए हैं। इनके अतिरिक्त प्रतिमा-पूजन आदि के विधि - निषेध, पूजा की परस्पर विरुद्ध पद्धतियाँ एवं दान-दया आदि के ऐसे विचित्र मत-भेद हैं, कि कोई भी मनीषी आश्चर्यान्वित हुए बिना नहीं रह सकता। यदि यही धर्म-परम्पराओं के आचार-विचार मोक्ष प्राप्ति के अंग हैं, तो फिर मोक्षमार्ग की कोई एक दिशा नहीं हो सकती। और, जब एक दिशा नहीं होती है, तो निर्धारित मूल लक्ष्य तक कोई कैसे पहुँच सकता है ? अतः स्पष्ट है, कि उक्त विभिन्नताओं में भी कोई एक ऐसी अभिन्नता है, जो धर्म का मूल केन्द्र है।

बाह्य-साधना मुक्ति का मुख्य हेतु नहीं :

अतः प्रस्तुत प्रसंग पर एक बात मुझे कहनी है। वह यह कि साधना का जो यह प्रवाह जीवन में प्रवाहित होता नजर आता है,

सम्यक्त्व का यथार्थ दर्शन।

उसमे पहले एक ओर भूमिका है, जब तक वह भूमिका प्राप्त नहीं होती, तब तक साधक को आगे की भूमिकाएँ प्राप्त नहीं होती। अगर प्राप्त भी हो जाती हैं, तो वे केवल बाहर में प्राप्त होती हैं, अन्दर में नहीं पहुँच पातीं। इसी दृष्टिकोण को भगवान् महावीर ने स्पष्ट किया है— 'जो साधना बाहर में, केवल बाहर में रह जाती है, वह शरीर का बाह्य माध्यम लेकर चलती है, फलतः वह बाहर में केवल दिखावे मात्र की वस्तु रह जाती है। जब तक वह अन्तरंग आत्मा का स्पर्श नहीं कर पाती, तब तक वह मुक्ति का हेतु नहीं बनती। हमारी आत्मा को वह कर्म-बन्धन से मुक्त - स्व-तन्त्र नहीं बना पाती, बल्कि वह एक प्रकार से संसार की गलियों में घूमने का रास्ता बन जाती है। यह दूसरी बात है, कि वह गली चाहे स्वर्ग की गली हो, चाहे नरक की गली हो। आखिर ये दोनों संसार की ही गलियाँ हैं, साधक इनमें फँस कर वैसे ही अवरुद्ध हो जाता है, जैसे कि पंकमग्न गजराज। इनसे साधना का मुख्य लक्ष्य सिद्धत्व प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि साधना के अन्तरंग स्पर्श में बाधक क्या है? उन्होंने कहा कि— अनन्त-अनन्त काल से यह आत्मा इस मिथ्यात्व और अज्ञान के अन्धकार में भटक रहा है, इसे दिव्य - प्रकाश की किरण प्राप्त नहीं हुई, वह शुद्ध सत्य-ज्योति का दर्शन नहीं कर सका। अनन्त बार नरकों में चक्कर काट आया तो क्या, देवलोक में भी घूम आया तो क्या, मनुष्य बन कर भी जीवन गुजार दिया तो क्या, और बाहर के अमुक क्रियाकाण्ड भी पालन किये तो क्या? अन्दर का ताला बन्द रहता है, विवेक का प्रकाश बुझा रहता है, तो कुछ नहीं हो पाता है। अस्तु, अनेक प्रकार की बाह्य साधनाओं में घूमने के बाद जब साधक अंतरात्मा में प्रवेश करता है, अन्दर का ताला खोल लेता है और अन्दर की बन्द खिड़कियों को खोल कर अन्तरंग में प्रवेश कर शुद्ध आत्म - ज्योति के दर्शन करता है, तब उसे 'स्व' का पता लगता है कि 'मैं क्या हूँ? मैं कौन हूँ?' उस वक्त वह सम्यक्-दर्शन एवं सम्यक्-ज्ञान की दशा में पहुँचता है।

अन्तरंग-प्रवेश में बाधक : विकल्प :

प्रश्न होता है कि इस 'स्व' का पता लगाने में, सम्यक् - दर्शन होने में बाधक तत्त्व कौन - कौन से हैं? एक तरफ हम मिट्टी के

पिण्ड अर्थात् शरीर से धिरे हुए हैं, कुछ इन्द्रियाँ हैं, उनसे धिरे हुए हैं, कुछ मन के विकल्प हैं, जिनसे हम धिरे हुए हैं। हम जब अंतरंग में घुसने का प्रयत्न करते हैं, तो इन भौतिक उपकरणों के कारण हमारी आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है। हम वहीं रुक जाते हैं। सबसे पहली कुंठा शरीर की है। ज्यों - ज्यों हम अन्दर प्रवेश करने लगते हैं, त्यों-त्यों शरीर, मन और इन्द्रियों के मोहक तत्त्व अर्थात् विषय हमें वहीं रोक लेते हैं। शरीर कहता है—‘मैं ही हूँ,’ मन कहता है—‘मेरे सिवा और कौन है ? मेरे आगे कुछ नहीं है।’ इस प्रकार बहुत-सी आत्माएँ शरीर तक अटक कर रह गईं। उसी को ही सर्वस्व मान लिया। कुछ इससे आगे बढ़े। उन्होंने सोचा कि शरीर में कुछ नहीं मालूम पड़ता। ये इन्द्रियाँ ज्ञान कर लेती हैं, आँख कुछ देख लेती हैं, कान कुछ सुन लेते हैं, नाक से सुगन्ध-दुर्गन्ध का का पता लग जाता है, जीभ से स्वाद का पता लग जाता है, स्पर्शन्द्रिय (त्वचा) से कर्कश या कोमल आदि स्पर्श का अनुभव हो जाता है। इसलिए इन्द्रियाँ ही ज्ञान के केन्द्र हैं। परन्तु बाद में मालूम हुआ कि इन्द्रियाँ तो मन की सहायता से ही जानती हैं। मन कहीं अन्यत्र उलझा हुआ हो, तो इन्द्रियाँ अपना काम नहीं कर पातीं। आँख देख नहीं पाती, कान सुन नहीं पाते, जिह्वा रस को चख नहीं पाती, नाक सूँघ नहीं पाती, और त्वचा को स्पर्शानुभूति नहीं हो पाती। अतः इन्द्रियाँ नहीं, मन ही ज्ञान का केन्द्र है। अतः आत्मा का यहीं पर कहीं-न-कहीं निवास है। इस स्थिति में साधारण जन मन को ही आत्मा समझने लगता है, उसी को ‘मैं’ समझ कर बैठ जाता है। ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति मन में भ्रंशकता है, मन के अन्दर प्रवेश करता है, तो उसे विकल्प - ही - विकल्प नजर आते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकल्प असंख्य हैं। भगवान् महावीर ने कहा है कि ये विकल्प इतने हैं कि इनकी कोई संख्या नहीं है, असंख्य हैं ये। इतने अगणित विकल्पजाल हैं मनके, कि हम यहाँ मन तक पहुँच पाते हैं, लेकिन उससे आगे चल कर रुक जाने का मतलब यह है कि उन सबसे दूर जो दिव्य प्रकाश जगमगा रहा है अन्दर में, उस ओर दृष्टि जाती ही नहीं, हम वहीं से लौट पड़ते हैं।

सम्यक्त्व का यथार्थ दर्शन :

‘मैं’ को पाने में अन्य बाधक चीजें :

दूसरी ओर, इस शरीर के साथ लगे हुए जो बाह्य पदार्थ नजर आते हैं, उनसे भी इन्सान घिरा हुआ रहता है। वे पदार्थ हैं—धन, सम्पत्ति, परिवार, जाति, प्रान्त, गाँव नगर, राष्ट्र, मकान, जमीन-जायदाद, मान - सम्मान आदि। इन विकल्पों का घेरा भा मनुष्य के चारों ओर इतना बड़ा है, कि व्यक्ति बाहर में भ्रंशिता है, तो उसके सामने विराट् संसार खड़ा हो जाता है। उन सभी चीजों पर उसने ‘मैं’ और ‘मेरे’ की छाप लगा रखी है, इस कारण इस विराट् संसार में ही उसका ‘मैं’ खो गया, उसका पता नहीं लग पा रहा है कि वह कहाँ है, कैसा है ?

एक शिष्य अपने स्वरूप की तलाश में किसी गुरु को खोजने निकला कि कोई उसे बताये ‘मैं कौन हूँ।’ पता लगाते-लगाते एक जगह उसे कुछ लोग यह कहते हुए मिले—कि “अमुक जगह एक आत्मदर्शी गुरु रहता है। वह तलाशता हुआ वहाँ पहुँचा, तो कुटिया का दरवाजा बन्द था। गुरु अन्दर ध्यानस्थ थे। एक बार दरवाजा खटखटाया, तो कोई आवाज नहीं आई। दूसरी बार फिर खटखटाया, तो कोई नहीं बोला। तीसरी बार फिर खटखटाया गया, तो अन्दर से पूछा गया—‘कौन है ?’ यह सुनते ही शिष्य ने कहा—“कौन है ? इसी का पता लगाने के लिए ही तो मैं आपके द्वार पर आया हूँ।” यदि मुझे पता लग जाता कि ‘मैं कौन हूँ ?’ तो यहाँ तक आने की आवश्यकता ही नहीं थी। मैं आपसे यही मालूम करने आया हूँ कि “मैं कौन हूँ ?”

सद्गुरु ने दरवाजा खोला, बाहर आए और कहा—“वत्स ! तू सच्चा जिज्ञासु बनकर आया है। कोई स्वर्ग की तलाश करने के लिए आता है, तो कोई संसार के ऐश्वर्य की तलाश करने आता है। और भी न मालूम कितनी तरह की कामनाएँ ले कर वे मेरा दरवाजा खटखटाते हैं। लेकिन, सच्चा शिष्य इस ‘मैं’ की खोज में रहता है, इसी ‘मैं’ की तलाश में यात्रा शुरू करता है। और, जब वह गुरु का दरवाजा ‘मैं’ की तलाश के लिए खटखटाता है, तब सच्चा शिष्य बन कर सामने आता है।” गुरु ने उसे उपदेश दिया और आत्मा के स्वरूप की भ्रांकी दिखाई।

सम्यक्त्व कहाँ है, कहाँ नहीं ?

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि 'मैं' हूँ इसको खोजने का सम्यक् - पुरुषार्थ ही 'सम्यक्त्व' है, सच्चे माने में। हमारे यहाँ सम्यक्त्व पाने वाले के लिए बहुत-से बाहर के विकल्प खड़े किए जाते हैं कि अमुक प्रकार का वैश ही, अमुक प्रकार की क्रियाएँ हों, अमुक गुरु से गुरुधारणा करे, अमुक - अमुक मान्यताओं पर विश्वास करे, वहीं सम्यक्त्व है, और जो इस प्रकार के नहीं हैं या जो इस प्रकार से विश्वास नहीं करते, वहाँ सम्यक्त्व नहीं है। बड़ा गड़बड़-झाला है। कहा जाता है—इस गुरु को मानो और इसको न मानो, तभी सम्यक्त्व है। इस गुरु में यह दोष है, उसमें अमुक दोष है। यह गुरु नहीं है, वह गुरु है। इस प्रकार गुरुओं पर अपनी मान्यता के अनुसार लेबल लगाया जाता है। शिष्यों पर भी इसी तरह लेबल लगाते हैं कि यह फलां गुरु का शिष्य है, तो सच्चा सम्यक्त्वी है। बड़ी विचित्र उलझन में डाल रखा है, सम्यक्त्व को। अमुक साधुओं को मानिये तो सम्यक्त्व है, अमुक को मानेंगे तो सम्यक्त्व नहीं है। खेद है, सम्यक्त्व को तौलने के बाट और नापने के गज हर व्यक्ति के अपने-अपने हैं।

एक साधक का प्रश्न मेरे सामने आया। उसका कई पृष्ठों में लम्बा-चौड़ा एक पत्र आया। उसमें गुण-दोषों—दोनों का वर्णन करने के बजाय, केवल दोषों-ही-दोषों के बयान से पृष्ठ भरे थे। अन्त में लिखा था—“ऐसी स्थिति में क्या समझा जाए ? क्या किया जाए ?” मैंने चन्द्र पंक्तियों में उस पत्र का उत्तर लिखाया—“भाई ! वास्तव में आप साधक हैं। सच्ची साधना के कारण आपकी आत्सा में जागृति आ गई है, तो मेरा नम्र सुभाव है कि साधक को बाहर की तरफ देखने की अपेक्षा अपने अन्तरंग में ही देखना चाहिए। बाहर में जो तलाश कर रहे हैं, वे पर-दोष ही देखते हैं। दुर्भाग्य से इतने पृष्ठों में आप किसी का कोई गुण बयान नहीं कर सके, केवल दोष-ही-दोष आप देखते रहे। परदोष-दर्शन की दृष्टि कभी गुण-दर्शन कर ही नहीं सकती। इसलिए कभी दोष ही देखना हो तो अपने अन्दर देखो। जो साधक अपने अन्दर में दोषों को देखता है, वही उनका निराकरण कर सकता

है। साधक की दृष्टि जितनी - जितनी अन्तरंग की ओर पहुँचती है, उतनी ही उसकी साधना निखरती जाती है, दोष दूर होते जाते हैं, और आत्मा का विकास होता जाता है। ज्यों - ज्यों हम बाहर में देखने जाते हैं, त्यों-त्यों आत्मा से दूर होते जाते हैं। बाह्य दृष्टि से देखने पर साधना का ठीक-ठीक रूप नजर नहीं आएगा। आप अन्ततः गलत भूमिका पर पहुँच जाएँगे।”

‘मैं’ के होने पर हो सभी गतिमान हैं :

इसका अर्थ यह हुआ कि हम करना चाहते हैं—आत्म स्वरूप की भांकी, परन्तु हमारी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है, इस विराट् बाह्य संसार में, संसार की ताक-भांक में। हम मिट्टी के पिंड शरीर एवं इन्द्रियों के इस बोहड़ वन में ही कहीं-न-कहीं फँस जाते हैं। ‘मैं’ के वास्तिक स्वरूप को ठीक तरह नहीं पकड़ पाते हैं कि यह ‘मैं’ शरीर में है या शरीर से परे है? यह ‘मैं’ इन्द्रियों में है या इन्द्रियों से परे है? यह मन ‘मैं’ है या मन से स्वतन्त्र कोई ‘मैं’ है?

शरीर अपने अधिष्ठाता के होने से हरकत करता है, अगर वह न रहे तो वह कुछ भी हरकत नहीं करता। यद्यपि शरीर उस समय भी मौजूद रहता है, लेकिन ‘मैं’ के निकल जाने से वह हरकत करना बन्द कर देता है। ये इन्द्रियाँ और मन भी जब तक ‘मैं’ है, तभी तक हरकत करते हैं। जब ‘मैं’ निकल जाता है, तो इन्द्रियाँ ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं, लेकिन काम करना बन्द कर देती हैं। आँख देखती नहीं, नाक सूँघती नहीं, कान सुनते नहीं, हाथ आदि स्पर्श का अनुभव नहीं करते, जीभ चखती नहीं, बोलती भी नहीं। इसका मतलब यह है कि शरीर और इन्द्रियाँ आदि को जो चेतना प्राप्त है, वह उसकी अपनी नहीं है। वह उधार ली हुई है। वह उधार चेतना देने वाला और कोई है, जो शरीर तथा इन्द्रियों पर (अपनी) रोशनी डालता रहता है। यदि वे स्वयं काम करते, तो उसके न रहते हुए भी करते। मगर उसके न रहने पर ये सब मौजूद रहते हुए भी कुछ काम नहीं कर पाते।

बहुमूल्य रत्न और आँखों से भी द्रष्टा का मूल्य अधिक :

इसलिए यह ‘मैं’ ही प्रमुख है, उसी का मूल्य ज्यादा है। इस बात को ठीक से समझने के लिए एक दृष्टान्त ले लीजिए—एक

यात्री जंगल से होकर गुजर रहा था। रास्ते में उसे रत्नों का ढेर मिल जाता है। परन्तु वह यात्री आँख से अन्धा है। इसलिए पैरों को रत्नों का स्पर्श होते ही वह बड़बड़ाने लगता है कि "किस कम्बख्त ने रास्ते में इन कंकड़-पत्थरों का ढेर कर दिया। ये तो मेरे पैरों में चुभ रहे हैं। मालूम होता है, नादान बच्चों की शरारत है।" आँखों से नहीं देख पाने के कारण उन बहुमूल्य रत्नों को कंकड़-पत्थर समझ कर बालकों को गालियाँ देता और मन ही मन कुढ़ता व दुःखी होता हुआ वह उन पर से आगे बढ़ जाता है। लाखों-करोड़ों के मूल्य के उन रत्नों को वह वहीं छोड़ जाता है।

मैं आपसे पूछता हूँ—रत्नों का मूल्य ज्यादा है या आँखों का? चूँकि उस यात्री के आँखें नहीं थीं, इसलिए उसके लिए वे रत्न कंकड़-पत्थर के तुल्य थे। सच तो यह है कि आँखें उन रत्नों से अधिक कीमती हैं। इससे भी एक कदम आगे एक और पहलू से सोचिये—आँखें यथास्थान मौजूद हैं, लेकिन आँखों के पीछे जो देखने वाला है, वह नहीं रहा तो करोड़ों के मूल्य के रत्न भी हों, और उनसे भी अधिक मूल्यवान् आँखें भी हों, किन्तु आत्मा नहीं है, तो इन सबका क्या मूल्य रह जाता है? मृत शरीर में आँखें भी हैं, किन्तु उसके पीछे देखने वाला—द्रष्टा नहीं रहा, तो उन आँखों की भी क्या कीमत रही? प्रश्न है—यहाँ आँखों की कीमत ज्यादा है या उन आँखों के पीछे जो द्रष्टा—देखने वाला है, उसकी कीमत ज्यादा है? स्पष्ट है, कि ऐसी स्थिति में तो आँखों की अपेक्षा आँखों वाले—द्रष्टा का मूल्य ही सबसे अधिक है।

हाँ तो, निष्कर्ष यह निकला कि वह द्रष्टा ही सबसे बड़ी कीमत लिए बैठा है, जो इन्द्रियों और इन रत्नों से भी अधिक कीमत वाला है। वह कान, नाक, आँख, जीभ और स्पर्शेन्द्रिय से भी अधिक कीमती है। अगर हम उस द्रष्टा (आत्मा) की सम्यक्-अनुभूति कर सकें, तो हमें सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त हो सकती है।

इन्द्रियों को ही ज्ञाता-द्रष्टा मानने को भूल :

सर्वसाधारण लोगों को इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा जैसी कोई चीज नजर नहीं आती। देखने, सुनने, सूँघने, चखने और

स्पर्श करने का ज्ञान इन्द्रियों से होता है, इसलिए कुछ दार्शनिक कह देते हैं कि प्रत्यक्ष-ज्ञान करने वाली इन्द्रियों को ज्ञानवान न मान कर, प्रत्यक्ष में नजर न आने वाली परोक्ष-आत्मा को ज्ञानवान मानना, यथार्थ नहीं है।

किन्तु एक तर्क है, उस पर अगर हम गहराई से विचार करें, तो हमारे सामने वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाएगी। मान लो, किसी ने आँखों से (जो उस समय उसके थीं) दिल्ली देखी बथवा अमुक किसी वस्तु को देखा। मगर कुछ समय के पश्चात् ही उसके नेत्रों की ज्योति चली गई, किसी कारण से। वे आँखें, जिन्होंने दिल्ली देखी थी, अब तो रही नहीं। परन्तु, वह जो अनुभव किया हुआ है कि दिल्ली ऐसी थी, उस अनुभव की स्मृति तो विद्यमान रहती ही है। प्रश्न है, जिसे हम स्मृति या याद कहते हैं, वह जिसे आ रही है—वह कौन है? अगर इन्द्रियाँ ही ज्ञानवान या आत्मा हैं, तब तो जिन आँखों ने उन दृश्यों को देखा था, वे तो अब रही नहीं; ऐसी स्थिति में जो यह स्मृति आ रही है, वह किसको और कैसे आ रही है? क्योंकि पूर्वोक्त तर्क के अनुसार तो जिसने देखा है, उसी को देखने की स्मृति होनी चाहिए। स्मृति अनुभव - मूलक होती है। जिसे अनुभव हुआ है, उसी को उसकी स्मृति होती है, दूसरे को नहीं। ऐसा तो नहीं हो सकता कि आप देखें, और मुझे उस दृश्य या पदार्थ की स्मृति हो जाए। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि देखे कोई और, और उस देखे हुए की स्मृति किसी और को आए; सुने कोई और, तथा उस सुने हुए की याद किसी और को आए; नाक से फूल किसी और ने सूँघा और उस सुगन्ध की याद किसी दूसरे को आए? लड्डू, पेड़े आदि का स्वाद लिया किसी अन्य ने, किन्तु उस स्वाद की स्मृति किसी और को आने लगे?

मतलब यह है कि चाहे हजारों-लाखों वर्ष बीत जाएँ, तो भी तर्कशास्त्र से निर्णीत यह अनुभव मूलक स्मृति का सिद्धान्त स्थिर रहेगा। भौतिक विज्ञान ने भले ही आज हमारी अन्य अनेक मान्यताओं को धक्का दे दिया हो, बदल दिया हो, परन्तु जहाँ तक अनुभवमूलक स्मृति का प्रश्न है, यह सत्य आज भी अकाट्य व स्थिर है कि जो देखता है, जो अनुभव करता है, उसी को स्मृति होती

है, दूसरे को नहीं। इस सैद्धान्तिक सत्य को विज्ञान या अन्य कोई चुनौती नहीं दे सका है। कोई भी शक्ति इस सत्य से इन्कार नहीं कर सकती और न कर सकेगी; क्योंकि यह भ्रनादि - अनन्त काल का सत्य है।

हाँ तो, अगर ये इन्द्रियाँ ही आत्मा होतीं यानी द्रष्टा होतीं और निर्णय करने की समग्र क्षमता उनकी अपनी ही होती, तो प्रश्न उठता है कि उनके नष्ट हो जाने के बाद भी जो स्मृतियाँ बनी हुई हैं कि मैंने यह चीज देखी थी, ऐसा सुना था, ऐसा सूँघा था, ऐसा स्पर्श किया था, वहाँ मैंने ऐसा भोजन किया था, ये स्मृतियाँ किसको आ रही हैं? स्पष्ट है कि आत्मा को ही आ रही हैं? जो शरीर एवं इन्द्रियों से पृथक् उनका सही ज्ञाता द्रष्टा था। तथ्य यह निकला कि वह अनुभूति करने वाला कोई और था, ये इन्द्रियाँ नहीं। यह अनुभव ये इन्द्रियाँ खुद - व - खुद नहीं कर सकतीं। ये तो एक जरिया मात्र बनती हैं, एक माध्यम या मीडियम बनती हैं। पर वह असल द्रष्टा, मूल प्रत्यक्षकर्ता कोई और है, जिसे आँख, कान, आदि इन्द्रियाँ न होने पर भी उन वस्तुओं की स्मृति आती है।

अलग-अलग इन्द्रियों से ज्ञान करने वाली आत्मा है :

एक बात और है, अलग-अलग इन्द्रियों से अलग-अलग ज्ञान होता है, तो उसका जमा भी अलग - अलग होना चाहिए। लेकिन सारी इन्द्रियों से अलग-अलग ज्ञान होने पर भी मैंने देखा, मैंने सुना, मैंने चखा, यह सारा ज्ञान हमें एक जगह केन्द्र में मालूम पड़ता है, अलग-अलग नहीं। यानी ज्ञान का केन्द्र एक ही जगह जान पड़ता है।

एक रूपक से इसे समझा दूँ। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति किसी बहुत ऊँचे महल में रहता है। उसके पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—चारों दिशाओं में दरवाजे हैं, खिड़कियाँ हैं, और वे सब खुले हुए हैं। उक्त महल का निवासी कभी पूर्व की खिड़की से देखता है, कभी पश्चिम के झरोखे से, कभी दक्षिण की खिड़की से, तो कभी उत्तर की खिड़की से देखता है। यानी अलग - अलग खिड़कियाँ खोल कर वह पूर्वादि दिशाओं के अलग - अलग दृश्य

सम्यक्त्व का यथार्थ-दर्शन :

देखता रहता है। परन्तु देखने के बाद में क्या है ? इन सारे दृश्यों को देखने वाला द्रष्टा तो एक ही है। अतः भले ही देखने के लिए उसने खिड़कियाँ अलग-अलग अपनाई हों। ऐसा तो नहीं होता कि पूर्व की खिड़की से से देखने वाला कोई और है, और पश्चिम आदि की खिड़की से देखने वाला कोई और। वह तो एक ही व्यक्ति होता है, जिसे बाद में भी उनकी स्मृति आती है। हाँ तो, जैसे एक व्यक्ति एक महल में रह कर भी, अलग - अलग दिशाओं के अलग-अलग द्वारों से स्वयं अलग-अलग-दृश्य देखता है और बाद में 'मैंने देखा' ऐसा कहता है, ऐसे ही शरीर भी एक महल है। इसमें रहने वाला आत्मा भी आँख के द्वार से भाँक कर देख लेता है, कानों के द्वार से सुन लेता है, जिह्वा के द्वार से चख लेता है, नाक के द्वार से सुगन्ध - दुर्गन्ध सूँघ लेता है और स्पर्श-न्द्रिय के द्वार से ठंडा-गर्म, हलका - भारी आदि स्पर्शों का अनुभव करता है और बाद में वही संकलित रूप से इन सारे अनुभवों को स्मृति के रूप में याद रखता है। अनुभवों का केन्द्र एक है, तो स्मृति का केन्द्र भी एक है।

आत्मानुभूति का होना ही सम्यक्त्व है :

शरीर और इन्द्रियाँ आदि से आत्मा की कीमत ज्यादा समझना, समय आने पर आत्मा की रक्षा के लिए शरीर और शरीर से सम्बन्धित तमाम वस्तुओं से निर्लिप्त, तटस्थ हो जाना, छोड़ने में न हिचकना ही वास्तव में आत्मानुभूति है और यही उपलब्धि सम्यक्त्व का लक्षण है। उक्त सम्यक्त्व के होने पर ही साधना प्राणवती होती है, अन्यथा नहीं।

अगस्त १९७४



संधारा विशुद्ध अध्यात्म साधना है

आजकल कुछ समाचार पत्रों में यह प्रश्न विशेष रूप से उठाया जा रहा है, क्या जैन - परंपरा का संधारा आत्म हत्या नहीं है ? व्यक्तिगत रूप से भी दर्शनार्थ समागत भाई-बहन एवं कुछ विचारक पत्रों के माध्यम से भी यदा - कदा उक्त प्रश्न को उठाते रहते हैं । दिल्ली से दर्शनार्थ आए हुए जिज्ञासु श्री केवलकृष्ण के मन में भी यह जानने-समझने की जिज्ञासा है—“आत्म-हत्या और संधारे में क्या अन्तर है ?”

प्रश्न विचारणीय है, अतः उत्तर भी तदनुरूप ही तर्क - संगत अपेक्षित है । हम केवल अन्ध-श्रद्धा एवं रूढ़-परम्परा के नाम पर यों ही अंधेरे के प्रवाह में न बहते चले जाएँ । श्रमण भगवान् महा-वीर का निरन्तर यह दिव्य-घोष रहा है—जो भी क्रिया हो, ज्ञान पूर्वक हो, चिन्तन, प्रज्ञा एवं विवेक के आलोक में हो—

“पदमं नाणं, तओ दया ।” —दशवैकालिक

क्रिया के पूर्व सम्बोधि होनी ही चाहिए । यह परिज्ञान क्रिया करने के पहले कर लेना चाहिए, कि इसे किस परिस्थिति में करना चाहिए, और इसका अन्ततः क्या परिणाम आएगा ? मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, मेरे में अभीष्ट कार्य करने की शक्ति, क्षमता और सामर्थ्य कितना है ? और, मैं इसे विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाने पर भी ठीक तरह कितना निभा सकता हूँ ? साधक इस पर बार-बार चिन्तन करें—

“कश्चाऽहं, का च मे शक्ति, इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः”

संधारा क्या है :

संधारा, जिसे समाधि-मरण, अन्तिम संखलेना भी कहते हैं । वैदिक - परम्परा में इसे आमरण अनशन एवं प्रायोपवेशन भी

संधारा विशुद्ध अध्यात्म साधना है ।

५६

कहते हैं। सिर्फ जैन ही नहीं। भारत की प्रायः सभी आस्तिक परंपराओं में इसकी चर्चा है। उसके रूप कुछ भिन्न - भिन्न हैं, लेकिन हैं अवश्य।

जीवन एक यात्रा है। इस यात्रा में साधक जब यात्रा के अन्तिम क्षणों में पहुँच जाता है, तो उसके मन में एक प्रश्न उठता है कि इस जीवन-यात्रा से अन्तिम विदाई लूँ, तो कैसे लूँ? जैसे अन्य प्राणी जन्मते और मरते रहते हैं, उसी प्रवाह में बहता रहूँ, या उससे भिन्न मार्ग स्वीकार करूँ? और, वह चिन्तन - पूर्वक संथारे की ओर अग्रसर होता है। वैसे संथारे का अर्थ कुछ और है, परन्तु वह अनशन के लिए रूढ़ हो गया है। प्राचीन युग में कुशा घास बिछा देते थे, उसे संस्तरण अर्थात् संस्तार - बिछौना कहते थे। साधक उस संस्तरण पर बैठ कर अपनी शक्ति को तौल लेता था, समय (काल) को जान लेता था। उसके पश्चात् वह अनशन स्वीकार करता था। अतः साधक के लिए समयज्ञ - कालज्ञ होना जरूरी है।

साधक को स्वयं यह ज्ञान हो जाए या किसी विशिष्ट ज्ञानी से यह ज्ञात हो जाए कि मेरा अन्तिम समय निकट आ गया है, जीवन-धारा के क्षण थोड़े - से शेष रह गए हैं। अतः मुझे अपने आपको संसार के द्वन्द्वों से अलग कर लेना है। वह मृत्यु के क्षणों से भयभीत होकर, रोता - बिलखता नहीं जाता, प्रत्युत निर्भय और निर्द्वन्द्व भाव से आत्मा-साधना में तल्लीन होकर प्रसन्न चित्त से मृत्यु का स्वागत करता है।

संथारे में मुख्य बात अनशन की नहीं, जीवन के परिमार्जन की है। प्रभु-स्मरण के साथ वह अपने जीवन का निरीक्षण करता है और जीवन - यात्रा में कहीं कोई गलती हो गई है, किसी के साथ वैर - विरोध हो गया है, तो उसके लिए वह क्षमा चाहता है, सबके साथ मैत्री-भाव सम्पादित करता है। इसका अर्थ है—साधक के लिए सब अपने मित्र हैं, बन्धु हैं। उसके मन में अपने और पराए का कोई विभेद नहीं है।

साधक, चाहे साधु हो या श्रावक हो। परिवार में, समाज में, संघ में, राष्ट्र में रहता है। अतः परिवार, समाज, संघ एवं

राष्ट्र में किसी भी व्यक्ति के साथ कभी-कुछ मैत्री - विहीन जैसी बात हो गई हो, तो वह उससे बिना किसी भेद-भाव के निरपेक्ष भाव से क्षमा - याचना कर ले। इसके लिए क्षमापना सूत्र में एक पाठ है—मैं सब जीवों को क्षमा देता हूँ और जगत् के सभी प्राणी मुझे क्षमा प्रदान करें। जगत् के सभी जीवों के साथ मेरा मैत्री-भाव है, सभी प्राणी मेरे बन्धु हैं, किसी के साथ वैर-भाव नहीं है—

“खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।

मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ॥”

वैसे तो प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय यह पाठ बोला जाता है, परन्तु जीवन के अन्तिम समय में विदा होने के पूर्व अन्तर्-हृदय से सब जीवों से मैत्री - भाव रख कर विदा होना साधक के लिए आवश्यक है। साथ ही विगत जीवन में हुए अन्य दोषों का भी परिमार्जन कर लेना आवश्यक है। इससे पवित्र वातावरण बनता है। मन शुद्ध - विशुद्ध होता है। मन के मैल को, कालुष्य को धो कर पावन - पवित्र बनाना, जीवन को परिमार्जित करके विशुद्ध बनाना, संथारे का मुख्य उद्देश्य है। अतः साधक को प्रबुद्ध चेतना से द्रष्टा बन कर देखना यह है कि भावना की विशुद्ध-धारा, चिन्तन की उज्ज्वल-धारा सतत प्रवहमान रहे, टूटने न पाए।

संथारे में आहार-त्याग रूप अनशन करना मुख्य नहीं, गौण है। क्योंकि आहार का छोड़ना साधक की स्व - शक्ति पर निर्भर करता है। इसलिए श्रमण भगवान् महावीर का स्पष्ट उद्घोष है—सुख पूर्वक, समाधि एवं शान्ति के साथ जितने समय तक निराहार रह सको रहो, जितनी बाह्य तप-साधना कर सकते हो करो। यदि आत्म-चिन्तन में, आत्म - शान्ति में बाधा उपस्थित होती हो, तो पारणा कर लेना ही उचित है। साधक के लिए—भले ही वह साधु हों या गृहस्थ, भोजन करना पाप नहीं है। भोजन करते हुए भी साधक पुण्य का उपार्जन कर सकता है और निर्जरा अर्थात् धर्म भी कर सकता है। भोजन तो महान् तपस्वी, ऋषि-मुनि, प्रबुद्ध-साधक एवं अरहन्त-वीतराग भी करते हैं। भोजन तो सिर्फ शरीर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए है। साधक को इतना अवश्य ध्यान रखना है, कि प्राप्त भोजन मनोज्ञ—मन के अनुकूल हो या मन के प्रतिकूल—अमनोज्ञ हो अर्थात् गोचरी में सरस पदार्थ मिले

संथारा विशुद्ध अध्यात्म साधना है :

६१

हों या नीरस—किन्तु वह न मनोज्ञ पदार्थों का राग-भाव से, आसक्ति से भोग करे और न अमनोज्ञ—नीरस आहार का द्वेष-भाव से अनिच्छा से भोग करे, प्रत्युत दोनों स्थितियों में सम रहे। समता-भाव से किया गया आहार भी अन्तरंग तप है, निर्जरा का हेतु है। सम-भाव पूर्वक किया गया आहार अमृत भोजन है।

इस दृष्टि से जीवन के अन्तिम समय में अनशन की अपेक्षा दोषों की आलोचना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने जीवन का सम्यक्-रूप से निरीक्षण करके उसे निर्विकार - निर्मल बनाकर, शरीर का परित्याग कर देना ही यथार्थ में संथारा है। अन्य धर्म-परम्पराओं में भी इस तरह का वर्णन मिलता है। भारतीय-संस्कृति में, विशेष रूप से वैदिक-परम्परा में भी जीवन के चार भाग किए गए हैं। इस सम्बन्ध में महाकवि कालिदास का रघुवंशी राजाओं के सम्बन्ध में एक श्लोक है—

“शैशवेभ्यस्त विद्यानां, योवने विषयैषिनाम् ॥
 वार्धके मुनिवृत्तिनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥”

—शैशव काल में अर्थात् किशोर अवस्था में २५ वर्ष तक विद्या का अभ्यास करना है, फिर यौवन काल में गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना है। दाम्पत्य-जीवन के दायित्व के साथ समाज, देश एवं धर्म के दायित्व का भी पालन करना है। परन्तु, पूरा जीवन भोगों में ही नहीं बीता देना है, प्रत्युत ज्यों ही वृद्धावस्था में प्रवेश करे, त्यों ही मुनि-वृत्ति को स्वीकार कर ले। इधर - उधर के राग-द्वेषात्मक विकल्पों एवं वासानाओं में उलझी मन की वृत्तियों का निग्रह कर लेना ही चारित्र्य है। श्रमण भगवान् महावीर ने भी कहा है—“चारित्तेण निगिण्हाइ” अर्थात् अपने मनोविकारों को नियंत्रित करना ही चारित्र्य है। महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में “योग-श्चित्तवृत्ति निरोधः” अर्थात् चित्त-वृत्ति का निरोध करना योग है। इसलिए कहा गया—“योगेनान्ते.....” अर्थात् अन्त में योग के द्वारा चित्त - वृत्तियों का निरोध करके तन का त्याग कर दे।

चित्त - वृत्तियों का निरोध करना, मन, वाणी एवं काया की वृत्तियों को समेट कर स्व-स्वरूप में स्थित होना योग है। और, योग का दूसरा अर्थ है—जोड़ना। अपनी वृत्तियों को इतस्ततः

से हटा कर परम - ज्योति परमात्म - भाव के साथ में जोड़ देना अर्थात् शुद्ध - विशुद्ध आत्म - ज्योति में स्थित हो जाना, योग है। इस दृष्टि से संसार से विदा होते समय अपने आपको परम-ज्योति के साथ जोड़कर समभाव से शरीर का विसर्जन कर देना, संथारा है। कामनाओं से मुक्त होकर निरपेक्ष भाव से समत्व-योग में स्थित रहना ही संथारा है—न इस लोक के सुखों की, यश-प्रतिष्ठा के मिलने की कामना हो और न परलोक में स्वर्ग के सुख एवं ऐश्वर्य प्राप्त करने की कामना हो—

“न इहलोगा संसप्पओगे, न परलोगा संसप्पओगे”

और, यदि संथारे में पूजा-प्रतिष्ठा मिल रही है, जय-जयकार हो रही है, तो मन में यह कामना भी न जगे कि यह संथारा अधिक लम्बा चले, मैं लम्बे काल तक जीवित रहूँ। और, इसके विपरीत यदि कोई साथी ठीक तरह से सेवा नहीं कर रहा है, लोग भी पूछते नहीं हैं, तो मन में उनके प्रति द्वेष भी उत्पन्न न हो—कैसे लोग हैं कि संथारे में भी कोई पूछता नहीं। इससे तो अच्छा है, मृत्यु जल्दी आ जाए। इस प्रकार न जीवित रहने की कामना करे, और न मरने की—

“न जीविया संसप्पओगे, न मरणा संसप्पओगे”

संथारे का मूल विशुद्ध रूप समत्व - भाव ही है। अनशन करना अनिवार्य नहीं है। श्रमण भगवान् महावीर ने संथारा अर्थात् अनशन तो किया नहीं। वह ज्योति पुरुष अन्तिम क्षण तक दिव्य-देशना की अमृत - वर्षा करते रहे। जैसे कोई पिता घर से अन्तिम विदाई लेने के समय उसके पास जो सम्पत्ति है, उसे अपने परिवार में बाँट देना चाहता है, वैसे ही महाप्रभु अन्तिम क्षणों में भी ज्ञान के दिव्य - आलोक को जन - जन में फैलाते रहे। इसलिए अन्तिम समय में अनशन करना अनिवार्य नहीं है। आवश्यक है—समत्व-भाव में रमण करना। यदि किसी की शक्ति हो तो अनशन करे, लेकिन करना उसी को चाहिए, जो समयज्ञ हो अर्थात् जिसे काल-ज्ञान हो। या तो अपने विशिष्ट ज्ञान से स्वयं को बोध हो जाए कि जीवन का अन्तिम समय निकट आ गया, या गुरु आदि विशिष्ट ज्ञान से जानकर उसे सूचित कर दे या कोई दैवी-शक्ति

संथारा विशुक्त अध्यात्म साधना है।

६३

उसे सूचित कर दे। जैसे भी हो संथारे के पूर्व काल - ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यह तो स्वस्थ दशा में किए जाने वाले संथारे का स्वरूप है।

दूसरा रूप यह है कि काल-ज्ञान तो नहीं है, किन्तु कोई भयंकर रोग या उपद्रव की स्थिति हो जाती है। और, साधक समझ लेता है कि अब जीवन को बचाना कठिन है। तब वह सहसा संथारे का पथ अपना लेता है। संथारे के पाठ में स्पष्ट उल्लेख है—“सर्व समाह्वितियागारेणं” अर्थात् सब तरह से समाधि बनी रहे, समभाव की धारा टूटने न पाए, तो जीवन-पर्यन्त अनशन है। यदि परिस्थिति बदल गई, अनशन से बीमारी शान्त हो गई, और अब भूख को सहन करने की क्षमता रही नहीं, समभाव एवं समाधि की धारा टूट रही है, मन भोजन के विकल्पों में उलझ रहा है, तो ऐसे समय में “सर्व समाह्वितियागारेणं” के प्रकाश में साहस के साथ पारणा कर लेना चाहिए। अनशन तो बाह्य तप है, उत्तर गुण है। अन्तरंग तप तो समभाव है, वही मूल गुण है। यदि मूल गुण ही भंग हो रहा है, तो उत्तर गुण का कोई भी मूल्य नहीं रह जाता है। अतः हठपूर्वक प्राणों का त्याग करना संथारा नहीं है, अपितु, स्पष्ट ही एक प्रकार की आत्म - हत्या है। अतः ऐसे समय में आहार कर लेना ही श्रेयस्कर है। भगवान् की आज्ञा भी यही है—समाधि अर्थात् समभाव बना रहे, तो अनशन है, अन्यथा पारणा कर लो। हठ पूर्वक कोई क्रिया करने की आज्ञा नहीं है। हठ-योगी परम्पराओं का गुलाम बन जाता है। यदि अब भोजन कर लेंगे, तो लोग क्या कहेंगे? लोगों से पहले यह सोचो, तुम्हारी अन्तरात्मा क्या कहती है, भगवान् क्या कहते हैं? तुम्हारे अन्दर साधना का मूल समभाव रहता है या नहीं? इस सत्य को सामने रख कर ज्ञानपूर्वक क्रिया करना धर्म है, न कि लोगों को दिखाने के लिए या लोग-लज्जा के भय एवं दबाव में क्रिया-काण्ड करना? वह तो धर्म नहीं, धर्म के नाम पर दिखावा है, पाखण्ड है, दम्भ है, यज्ञ-कीर्ति के टुकड़ों को बटोरने का साधन मात्र है, साधना या संथारा नहीं है।

एक पुरानी घटना है। मध्य-प्रदेश के एक गाँव में एक सन्त बीमार पड़ गए। बीमारी से वे अधिक व्याकुल हो गए। उन्हें

लगा कि अब तो मर ही जाऊँगा । अतः उनके मन में विचार आया कि संथारा कर लूँ । साथ के उतावले व्यग्र साधुओं तथा श्रावकों ने भी यही प्रेरणा दी । अतः जल्दी में संथारा कर लिया गया । वह बीमारी कुछ ऐसी थी कि तपस्या से जो विकार थे, वे शान्त हो गए और वह सन्त स्वस्थ हो गया । स्वस्थ होने के बाद भी कुछ दिन और निकाल दिए । परन्तु, उसके बाद उसे बुभुक्षा सताने लगी, मन की शान्ति भंग होने लगी, तो उसने पास में जो सन्त थे, उन्हें कहा—“मुझे भूख लगी है, अब उसे सहन करना मेरे लिए कठिन है । अतः आहार ला कर दो ।”

साथ के साधु कहने लगे—“चुप रहो, बोलो मत । लोगों में, समाज में, और अपनी एवं दूसरी सम्प्रदायों में अपयश फैलेगा । चुपचाप भूखे रहकर मृत्यु का वरण करो ।”

उसने स्पष्ट कहा—“मेरे से इस तरह मरा नहीं जाता ।” और, इस तरह हठ पूर्वक जबरदस्ती मरना या मरने देना, न तो संथारा है, न धर्म है और न भगवान् की आज्ञा है । संथारे में ही स्पष्ट उल्लेख है—“सर्व समाहि वत्तियागारेणं :” विषम भाव में मरना श्रेयस्कर भी नहीं है । संकल्प - विकल्पों में हाय - हाय करके मर भी गया, तो पता नहीं किस गति में जाएगा ? किन्तु, लोक-लज्जा के कारण यह नहीं सोचा साथ में रह रहे साधुओं ने एवं संघ के वरोष्ठ श्रावकों ने । साधु भी अज्ञान से ग्रस्त थे, और श्रावक भी । जब वह उनसे नहीं समझा, तो कहा थोड़े समय तक और ठहरो । गुरुदेव दूसरे गाँव में हैं, उन्हें सूचना दे देते हैं, उनके आने तक ठहरो । कुछ ही दिनों में गुरुजी भी आ गए । आगमों की जानकारी भी थी उन्हें । पर, उनमें भी सत्य को सामने रखने का साहस नहीं था । इसलिए उन्होंने भी यही कहा—संथारा कर लिया है, तो उसे पूरा कर ले । यदि पारणा करके कुछ दिन और जिन्दा रह भी गया, तो इससे क्या होगा ? आखिर एक दिन तो मरना ही है । अच्छा है, अभी मर भी जाए, तो अपयश तो नहीं होगा ।

साधारण आदमी अपने कार्य को यश - अपयश पर तौलता है । चाहे विवाह - शादी हो या अन्य कार्य-कर्म—नाक का सवाल पहले सामने रहता है । परन्तु, कई वरोष्ठ साधु - साध्वी एवं

संथारा विशुद्ध अध्यात्म साधना है :

६५

आचार्य भी बाह्य क्रिया - काण्डों की भी यश - अपयश के आधार पर ही तीलते हैं। आचार्यश्री भी सोचने लगे कि यदि शिष्य को पारणा करा दिया, तो लोग क्या कहेंगे ? पहले तो उसे समझाया। जब वह नहीं माना, तो कहा उन्होंने—यदि तुम अब संथारा नहीं चला सकते हो, तो मैं संथारा करता हूँ तुम्हारे स्थान पर। एक को तो प्राणों का बलिदान करना ही होगा, अपने धर्म एवं सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए। और शिष्य के आसन पर संथारा करके गुरुजी बैठ गए। अन्ततः वे दिवंगत भी हो गए। जैन - समाज आदर्श उदाहरण के रूप में इस कथा को बहुत उछालता है, धर्म रक्षा हेतु आचार्यश्री ने अपना बलिदान दे दिया।

किन्तु, मेरे विचार में उन्होंने जनता के समक्ष गलत आदर्श उपस्थित किया। उन्हें चाहिए था, कि वहाँ पधारते ही सर्व प्रथम वे यह देखते कि शिष्य ने संथारा तो किया है, परन्तु शरीर स्वस्थ हो जाने से अब वह संथारा निभा नहीं सकता और उसके परिणामों की धारा भी विषम होती जा रही है। अतः उन्हें आगम के अनुरूप बाह्य अपयश की भावना से ऊपर उठकर सत्य को जनता के समक्ष रख देना चाहिए था। उन्हें घोषणा करनी चाहिए थी, इसे काल - ज्ञान नहीं था और न साथ में रहने वाले सन्त भी समयज्ञ थे। रोग की उग्रता को देखकर सहसा घबरा गए, और संथारा करा दिया। यह संथारा भावावेश में किया गया है, इसलिए मैं इसे हठात चालू रखने की आज्ञा नहीं देता। अतः इसको पारणा कर लेना चाहिए। सत्य का आधार भी यही था। परन्तु, ऐसा कुछ न करके, अपने तथाकथित धर्म एवं साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा को बचाने के लिए स्वयं संथारा करके बैठ गए और दिवंगत भी हो गए।

ऐसी स्थिति में एक तो साधारण जनता में भ्रम फैला कि मुनिजी का संथारा चल रहा है। साधारण जनता यह नहीं जानती थी कि सन्त के स्थान पर आचार्यश्री ने संथारा कर लिया है। अतः असत्य का प्रचार हुआ और जनता के समक्ष गलत आदर्श भी उपस्थित किया गया—या तो संथारा करने वाला मरे, या उसके स्थान पर दूसरा सन्त मरे। अर्थात् समय के पूर्व बिना इच्छा के

किसी एक को मरना जरूर है। यह कैसी विचित्र बात है, इसका धर्म के साथ कहीं दूर तक भी सम्बन्ध नहीं है।

अभिप्राय यह है कि बिना ज्ञान के संथारा नहीं करना चाहिए। सर्वप्रथम साधक को समयज्ञ—काल का ज्ञान होना ही चाहिए और उसके बाद बाह्य अनशन स्वीकार करने के लिए अपनी शारीरिक शक्ति का सही परिबोध भी होना चाहिए, जिससे समभाव पूर्वक शुद्ध स्वरूप में स्थित होने का प्रयत्न कर सके।

पण्डित प्रवर श्री रत्नचन्द्रजी म. (आगरा—उ. प्र.) बहुत बड़े ज्ञानी थे। ज्योतिष विद्या के वे आचार्य थे। उन्होंने एक माह पूर्व यह बता दिया था कि अमुक दिन मेरी मृत्यु होने वाली है। परन्तु, साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मैं तपस्वी नहीं हूँ। अतः मैं यह नहीं चाहता कि मैं अपने स्वाध्याय, चिन्तन - मनन को छोड़कर एक माह तक संथारे में पड़ा पड़ा व्यर्थ में समय यापन करूँ। मैं बाह्य तप से अन्तरंग तप को अधिक महत्त्व देता हूँ। अतः मैं संथारा उसी समय करूँगा, जब मैं देख लूँगा कि मेरे शरीर में इतनी शक्ति है कि बाह्य तप के साथ-साथ अन्तरंग साधना सहज-भाव से कर सकूँ। इसलिए उन्होंने अपनी शक्ति के अनुसार चार दिन का संथारा किया।

वास्तव में जैन - धर्म मरने को महत्त्व नहीं देता है। परन्तु, जीवन को, वह भी संयमी जीवन को महत्ता देता है। अतः साधक को अपने जीवन की अधिक - से - अधिक लम्बे काल तक सुरक्षा करनी चाहिए। और, जब यह देखे कि जीर्ण - शोर्ण शरीर अपने या समाज के किसी भी कल्याण कार्य के लिए उपयोगी नहीं रहा है, व्यर्थ ही भार रूप हो गया है, अपितु जीवन की व्यर्थ आशा के अनर्गल दोषों के कारण शुद्ध आत्म - भाव मलिन हो रहा है, तो समाधि - पूर्वक समभाव से शरीर - विसर्जन की दिशा में विचार करना चाहिए। भगवान् महावीर ने स्वयं कहा है—

“लाभन्तरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिणाय मलावधंभी”

साधना, केवल बाह्य अनशन में ही सीमित नहीं है। बाह्य तप भी एक साधन है और वह अन्तिम समय में भी शक्ति के अनुरूप किया जा सकता है। परन्तु, महत्त्व है—समभाव की, वीतराग-भाव की साधना का और यह साधना साधक के जीवन में प्रारम्भ

संथारा विशुद्ध अध्यात्म साधना है :

से अन्त तक अनवरत गतिमान रहनी चाहिए। साधक का मुख्य लक्ष्य है—बाह्य क्रिया - काण्ड एवं रूढ़-परम्पराओं के व्यामोह तथा साम्प्रदायिक पक्षपात तथा यश - अपयश की भावना से ऊपर उठ कर, सत्य - द्रष्टा बन कर अन्तरंग साधना में संलग्न रहना और वीतराग - भाव की ओर बढ़ने का प्रयास करना।

अतः यह कथन गलत है कि संथारा मरने के लिए की जाने वाली आत्म-हत्या है। परन्तु, साधना में संलग्न रहते समय मृत्यु आ जाए, तो उसका सहर्ष स्वागत करने को तत्पर रहे। अतः संसार से विदा होते समय साधक के मन में किसी तरह का विषम भाव न हो, किसी के प्रति मम में विरोध एवं घृणा लेकर न जाए, प्रत्युत मन को पूर्णतः निर्मल - स्वच्छ करके सब के प्रति मैत्री भाव लेकर विदा हो।

श्रमण भगवान् महावीर का साधक को दिव्य सन्देश है—तुम स्वयं के स्वरूप का सम्बोध प्राप्त करो, अपने आपका निरीक्षण करो और अपने मन में जो राग - द्वेष का कचरा आ गया है, उसे सम्यक् - आलोचना के द्वारा साफ करके स्वयं को निर्मल - स्वच्छ बनाओ। और, दूसरों के मन को साफ करने का मार्ग बताओ। यह उनकी अपनी इच्छा है कि वे स्वयं को निर्मल करे या न करे। तुम दूसरों के जीवन के अधिकारी नहीं हो, तुम्हारा दायित्व स्वयं को शुद्ध-विशुद्ध बनाने का है। श्रमण भगवान् महावीर ने राजगृह के पर्वतराज वैभारगिरि की उपत्यका में स्थित गुणशील उपवन की इसी पावन-भूमि पर दिव्य उद्घोष किया था—

“जे उवसमइ तस्स आराहणा”

—जो स्वयं अपने अन्दर उभर रही कषायों की आग का उपशमन करता है, वैर-विरोध को उपशान्त करता है, राग-द्वेष को क्षय करता है, वही साधक आराधक है, उसकी साधना ही सफल है—

“उवसमसारं खु सामणं”

—क्रोध, मान आदि कषायों को उपशमन करना ही श्रेष्ठ श्रमणता है अर्थात् साधना का सार उपशम-भाव ही है।

इसके अतिरिक्त संथारा और है ही क्या? समभाव एवं वीतराग - भाव ही संथारा है। अनशन आदि क्रियाएँ तो बाह्य तप

है। भगवान् महावीर ने इसे बाह्य तप कहा है। अन्तरंग तप, सच्चा अनशन और सही अर्थ में संथारा है—क्रोध का उपशमन, अहंकार का विसर्जन, माया, दंभ, छल-कपट का परित्याग, लोभ-लालच, यश-प्रतिष्ठा की तृष्णा, स्वर्गादि की कामना का परित्याग।

उक्त भाव को शुद्ध अध्यात्मवादी आचार्य अमृतचन्द्र ने भी निम्नोक्त शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

‘मरणेऽवश्यं भाविनी कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे ।

रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥’

—मरण अवश्यं-भावी है, वह समय आ ही गया है। अतः क्रोध, मान, माया लोभ रूप कषायों को कुश—मंद, मंदतर करने रूप सल्लेखना है। अतः सल्लेखना समाधि-भाव है, रागादि के असद्-भाव के कारण आत्म - घात नहीं है।

अतः संथारा एक आध्यात्मिक - साधना है, निरपेक्ष भाव से अपने विशुद्ध रूप में स्थित होने की। इसलिए संथारा आत्म-हत्या नहीं है और न सिर्फ एक साम्प्रदायिक क्रिया-काण्ड ही है, यह है विशुद्ध दृष्टि संथारे की।

प्रस्तुत चर्चा को समाप्त करते हुए एक बात और भी कह देना चाहता हूँ कि एकमात्र अनशन के होने, न होने पर ही आराधक तथा विराधक की स्थिति नहीं है। कल्पना कीजिए, एक महान् उग्र संयमी साधक हृदय रोग आदि के सहसा आक्रमण से देह-मुक्त हो जाता है, तो उसे क्या समझना चाहिए—‘आराधक या विराधक?’ दोषों की आलोचना तो वह प्रातः एवं सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय निरन्तर करता ही रहा है। दिन एवं रात की प्रत्येक क्रिया की समाप्ति पर ज्ञात एवं अज्ञात दोषों के लिए ‘मिच्छामि दुक्कडं’ देता ही रहा है। संयम की शुद्ध-धारा प्रवाहित रही है, किन्तु हृदय - रोग आदि के तत्काल घातक आतंक से यदि अनशन का अवसर न मिले, तो इसमें उसका क्या दोष है तथा शारीरिक दुर्बलता के कारण भी अनशन नहीं हो पाता है, तो इसमें भी क्या विराधकता है? जैन-धर्म हठ-योग का नहीं, ज्ञान-योग का पक्षधर है। वह देहाश्रित धर्म नहीं, भावाश्रित धर्म है। अतः संथारा भी मूलतः भावाश्रित रूप से ही मान्य है। इसलिए

संथारा विशुद्ध अध्यात्म साधना है :

६६

इसकी श्रेष्ठता भी है। अतः संथारे की, जैसा कि आज-कल कुछ पत्रकार तथा अन्य सज्जन जीवित अग्नि-दाह रूप सती-प्रथा के साथ तुलना करते हैं, वह सर्वथा भ्रान्त है। सती-प्रथा में रागात्मकता है अथवा सामाजिक परम्परा एवं अन्य मानसिक प्रत्याघातों की हेतुता है। अस्तु, स्पष्ट ही दोनों में एक ऐसी विभेद रेखा है, जिसे विचारशील सज्जनों को तटस्थ दृष्टि से अवलोकन करना चाहिए।

मैं समझता हूँ कि मेरे इस वक्तव्य पर से श्री केवल कृष्णजी का तो समाधान हुआ ही होगा, साथ ही अन्य विचारशील सज्जन भी सम्यक् - विचार के चिन्तन-पथ पर अग्रसर होकर उक्त प्रश्न से सम्बन्धित सत्य से सहज ही लाभान्वित होंगे।



संयम : खलु जीवनम् :

आप जीवन के चाहे जिस किसी क्षेत्र में रम रहे हों, चाहे वह क्षेत्र श्रावक का हो, श्राविका का, साधु का हो, साध्वी का—किन्तु सबके बीच संयम का होना एक आवश्यक एवं अपरिहार्य तत्त्व है। संयम के बिना संतुलन कायम नहीं रह सकता, और संतुलन के बिना सुनियोजित जीवन के अभाव में किसी भी तरह की गति - प्रगति संभव नहीं है। गति-प्रगति के अभाव में जीवन, जीवन नहीं रह जाएगा, वह जिन्दा लाश रह जाएगा। अतः संयम ही जीवन है।

—उपाध्याय अमरमुनि

डोली यदि सवारी नहीं है :

तो फिर क्या है वह ?

एक पुरानी हास्यास्पद, साथ ही बोधप्रद लोक-कथा है, कि चार सशस्त्र घुड़सवार सैनिक दिल्ली की ओर जा रहे थे। उनके पीछे - पीछे एक जाति विशेष के सज्जन भी अपने गधे पर सवारी किए हुए सैनिक घुड़सवारों के साथ अपने गधे पर चल रहे थे।

एक गाँव के पास से गुजरे, तो कुतुहल वश वहाँ उपस्थित ग्रामीणों ने पूछा—“ये सवार कहाँ जा रहे हैं ?”

घुड़सवार बोलने ही वाले थे, कि गर्दभारोही सज्जन ने झटपट उत्तर दिया—“हम पाँचों सवार दिल्ली जा रहे हैं।”

ग्रामीणों ने पूछा—पाचवाँ सवार कहाँ है ?”

गर्दभारोही ने कहा—“देख नहीं रहे हो ? पाँचवाँ सवार मैं ही तो हूँ।”

इस पर सभी ग्रामीण ठहाका लगाकर हंस पड़े।

आजकल जिधर देखो उधर ही इन्हीं पाँचवें सवारों की दौड़-धूप है। परिवार से लेकर समाज, राष्ट्र, यहाँ तक कि धर्म के क्षेत्र में भी इनका काफी शोरगुल है। जो - कुछ थोड़ा - बहुत जानते हैं, वे तो चुप रहते हैं, किन्तु ये वे लोग हैं, जिन्हें आगम, दर्शन आदि का कुछ भी अता - पता नहीं है, लेकिन जब देखो, तब व्यर्थ ही अपनी कलम के तथाकथित गर्दभ दौड़ाने लगते हैं। ये महाभारत संग्राम के वे शिखंडी हैं, जो भीष्म पितामह के ऊपर वाणों से प्रहार करते हैं, किन्तु इन बुद्धिमानों को यह पता नहीं कि तुम्हारे इन शक्तिहीन वाणों से भीष्म पितामह न पहले कभी आहत हुए हैं, और न कभी भविष्य में होंगे।

डोली यदि सवारी नहीं है : तो फिर क्या है वह ?

७१

जैन-समाज के चिन्तन-क्षेत्र में एक चर्चा काफी समय से चल रही है—तथाकथित डोली, जिसका साधुओं द्वारा मुक्त मन से उपयोग किया जा रहा है, वाहन एवं यान है, या नहीं? अनेक वार सिद्ध किया जा चुका है—डोली नर-वाहन है, नर - यान है। किन्तु ये माँ के लाल अब भी अपना वही घिसा-पिटा स्वर अलाप रहे हैं, कि डोली वाहन एवं यान नहीं है। और, अपने इस व्यर्थ के अहंकार की छलना में ये लोग कभी - कभी अर्थहीन जर्जर शब्दों के धागों से बुने छोटे - मोटे लेख कुछ नगण्य पत्रों में छपाते रहते हैं। विचारशील सुधी - जन तो समझ लेते हैं, कि सही वस्तु-स्थिति क्या है? किन्तु साधारण जन, धर्म के नाम पर प्रचारित अपने पाण्डित्य के पीटे गए भ्रम वाद्यों के भ्रम में आ जाते हैं और दोनों तरफ से 'बहो रूप बहो ध्वनि' का घोष गूँजने लगता है। यह मनस्तुष्टि की ऐसी दूषित प्रक्रिया है, जो धर्म और समाज आदि सभी क्षेत्रों में जनता को विभ्रम में डाले हुए है।

मैं अब इस डोली की चर्चा को लम्बा नहीं करना चाहता। अब इस निष्प्राण चर्चा का कुछ अर्थ भी नहीं रहा है। अतः कुछ विशिष्ट प्रमाण उपस्थित कर उक्त चर्चा को एक किनारे ले जा कर छोड़ने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

जैन - धर्म के सभी तीर्थंकरों की महाभिनिष्क्रमण - यात्राएँ शिविका अर्थात् पालकी के द्वारा ही होती रही है। एतदर्थ समवा-यांग सूत्र आदि आगमों तथा ग्रन्थों का अवलोकन किया जा सकता है। राजवंश के होते हुए भी किसी भी तीर्थंकर ने सर्वोत्तम एवं सर्वजन बल्लभ महाभिनिष्क्रमण जैसे उत्सव प्रसंग पर गज एवं अश्व आदि की सवारी नहीं की है। इसका अर्थ है—शिविका सर्वश्रेष्ठ वाहन है, यान है।

ज्ञाता सूत्र, १, ३४ में मगध नरेश श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार की दीक्षा में 'पुरिस सहस्रवाहिणि सीयं'—सहस्र - पुरुष - वाहिनी शिविका के प्रयोग का उल्लेख है।

वासुदेव श्री कृष्ण के युग में थावच्चापुत्र की दीक्षा का वर्णन आज भी ज्ञाता सूत्र में उपलब्ध है। वहाँ भी थावच्चा पुत्र की दीक्षा में शिविका (पालकी) का प्रयोग भी मेघकुमार के समाग हो

वर्णित किया गया है। अधिक क्या लिखा जाए—शिविका के इस तरह के प्रयोगों के सैंकड़ों ही उल्लेख आगम एवं आगमोत्तर साहित्य में मिलते हैं।

अब प्रश्न है, कि शिविका क्या है ? शिविका का अर्थ पालकी और डोली आदि किया है। संस्कृत टीकाओं में तो शिविका का पालकी के रूप में स्पष्ट उल्लेख है ही, किन्तु अभी-अभी अ. भा. वर्ध. स्था. श्रमण संघ के दिवंगत युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी के नेतृत्व में—जो आगम माला प्रकाशित हुई है, जो अ. प्र. पं. श्री कन्हैयालालजी 'कमल', पं. श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री (वर्तमान में श्रमण - संघ के उपाचार्य) तथा पं. श्री रत्नमुनिजी एवं अन्य विद्वानों के द्वारा प्रमाणित भी की जा चुकी है, उसके प्रकाशित आगमों में भी शिविका का अर्थ डोली किया गया है। सूत्रकतांग सूत्र का द्वितीय श्रुतस्कंध, द्वितीय अध्यायन क्रियास्थान सूत्र ७१३ (पृष्ठ ८७) के मूल पाठ में अनेक यानों का वर्णन है, उसमें शिविका भी एक यान है, जिसका अर्थ किया है—डोली, आकाश की तरह अधर रखी जाने वाली सवारी (पालकी)।

प्रस्तुत आगम माला के ही उपासकदशांगसूत्र में शिविका आदि शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—“...सीय - संदमाणीयाइण्णजाणजुणे” अर्थात् शिविका—पर्देदार पालखियाँ, स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखियाँ, यान—गाडियाँ तथा युग्य—पुरातनकालीन गोल्ल देश में सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे-चौड़े डोली जैसे यान।

विचार - क्रान्ति के महान् सूत्र - धार आचार्य प्रवर पूज्यश्री जवाहरलालजी महाराज के निर्देशन में भी सूत्रकतांग का प्रकाशन हुआ था। उसमें भी आचार्यश्रीजी के द्वारा शिविका का अर्थ—आकाशयान और पालकी (डोली) भी किया है।

संस्कृत, प्राकृत आदि कोई भी भाषा हो, उसका अर्थ व्याकरण एवं कोष से होता है। संस्कृत - साहित्य में तो इसी हेतु से भावनात्मक शब्दों में यहाँ तक कह दिया गया है कि 'अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोषो जगत्पिता।' व्याकरण एवं कोष के बिना कोई भी भाषा साहित्य के पथ पर गतिशील नहीं हो सकती। आखिर वह मनुष्य की भाषा है, पशु - पक्षियों की मात्र ध्वनि विशेषात्मक

डोली यदि सवागी नहीं है : तो फिर क्या है वह ? :

बोली नहीं। अस्तु हम यहाँ व्याकरणोत्तर कोष का ही, जो अधिक महत्त्व है, उसी के उदाहरण समीक्षा हेतु दे रहे हैं।

संस्कृत कोषों की माला में सर्वतः सुप्रसिद्ध अमर-कोष है। देखिए यानों के प्रसंग में शिविका के लिए वह क्या कहता है—“शिविका याप्ययानं स्यात्” अमर कोष के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य कृष्णमित्र अपनी संस्कृत टीका में शिविका शब्द की कितनी स्पष्ट व्याख्या करते हैं—“शिवैव संज्ञायां कन् (५, ३, ७५) याप्यैरधर्मवा यानम् पालकी लोके।”—अमर कोष, द्वितीय काण्ड, क्षत्रिय वर्ग, श्लोक ५३।

प्रस्तुत श्लोक के उत्तराद्ध में दोला शब्द का प्रयोग है—“दोला प्रेङ्खादिका स्त्रियाम्।” आचार्य कृष्णमित्र ने टीका में स्पष्ट क्रिया है—“दोलयति, दुल उत्क्षेपे (चु. उ. से.) प्रेष्य (ङ्खय) ते। इषि गती। डोली लोके।”

उक्त कथन पर से स्पष्ट हो जाता है, शिविका और दोल—दोनों ही प्रयोग डोली रूप वाहन के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।

अमर-कोष के हिन्दी टीकाकार पं० श्री मन्नालाल ‘अभिमन्यु’ ने भी दोला का एक अर्थ स्पष्टतः डोली किया है।

जैन - परम्परा के महान् श्रुतधर आचार्य श्री हेमचन्द्र मुनि वरेण्य ने अभिधान चिन्तामणि के नाम से एक महान् संस्कृत कोष की रचना की है। प्रसन्नता है, यह कोष प्राचीन काल से ही प्रायः जैन-जैनेतर प्रमुख संस्कृत टीकाकारों को सादर मान्य रहा है। अतः हम यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में ‘अभिधान चिन्तामणि’ को उपस्थित किए देते हैं—

“शिविका याप्ययाने अथ दोला प्रेङ्खादिका भवेत्”

आचार्यश्री ने अभिधान चिन्तामणी पर स्वयं द्वारा ही रचित स्वोपज्ञ वृत्ति में उक्त शब्दों का जो स्पष्टीकरण किया है, उस पर से पालखी और डोली का अर्थ स्पष्ट हो जाता है—

‘शिवैव शिविका याप्यस्य अशक्तस्य यानं युग्याख्यं याप्ययानं ‘कृपानम्’ इति गौड तत्र।’

दौल्यते दोला काष्ठमयी, रज्जुप्रालम्बश्च, प्रेङ्खयते प्रेङ्खा हिण्डोल-काख्यो आदि ग्रहणात् शयानकादि याप्यमानानुवृत्तेः। -श्लोक ४२२

संस्कृत के आधुनिक कोषों का नमूना भी देख लीजिए—

‘शिविका-शिवं करोति, शिव-मिच्-ण्वुल अत इत्वम् यान भेदे (डुलो)

—अमरः ।’

—बृहद् वाचस्पत्यम्

‘शिविका—शिवं करोति । शिव-णिच्-ण्वल अत इत्वम् :’

एक प्रकार की सवारी—डोली

—पद्यचन्द्र कोष

‘शिविका—शिवं करोति, शिव-णिच्-ण्वुल-टाप् अत इत्वं ।

पालखी, मीयानो, डोली ।’

—शब्दरत्न महोदधि, पृष्ठ १६३६

संग्राहक : पन्यास श्री मुक्तिविजयजी

डोला-दोला (स्त्री) दुल्-अच्-टाप् । दशनदष्ट । इत्यादिना
दस्यडः (प्रा. १ पाद) । डोली इतिख्याने यानभेदे उद्यानाऽऽदौ
क्रीडाऽर्थं दोलयन्ते च । स्वार्थे कन् । पूर्वोक्तार्थे वाच, ।

— अभिधान राजेन्द्र कोष

पाइअ सद्महण्णवो

डोला (स्त्री.) डोली, शिविका, पालकी । —पृष्ठ ३७४

सिविया (स्त्री.) शिविका, सुखासन, पालकी—पृष्ठ ६०६

अब जरा हिन्दी - मराठी के कुछ प्रसिद्ध कोष भी देख लें—

शिविका (संज्ञा स्त्री) पालकी या डोली नाम की सवारी ।

—देखि पृष्ठ पकर्यो तिनका ही,

ल्याय लगायो शिविका मांही ।

—रघुराज (शब्द)

—हिन्दी शब्द सागर

“शिविका—डोली, पालकी ।” —नालंदा विशाल शब्द सागर

डोली—चंडोल, पालकी । —मराठी से हिन्दी शब्द संग्रह

प्रमाणों की श्रृंखला बहुत लंबी है । परन्तु, हम यहाँ विस्तार में न जाकर कुछ सुप्रसिद्ध कोष ग्रन्थों का उल्लेख करके ही अपने को समेट लेते हैं । एक बात अवश्य है, जिसे यों ही छोड़ देना मैं ठीक नहीं समझता हूँ । वह है, डोली के लिए ‘नर - वाहन’ शब्द

डोली यदि सवारी नहीं है, तो फिर क्या है वह ? :

७५

का प्रयोग । एक वार मैंने डोली शब्द के लिए नर - वाहन शब्द का प्रयोग किया था । इस पर पाँचवें सवारों के लेखकों ने काफी हो - हल्ला मचाया । और, मुझे सत्य महाव्रत भंग की कोटि में ढकेलने की असफल कोशिश भी की । किन्तु, उन विचारों को पता नहीं, कि वे स्वयं ही सत्य - व्रत का भंग कर रहे हैं । अज्ञानता ही सबसे बड़ा पाप है । अतः मैं अपने आत्मप्रिय पाँचवें सवारों को हार्दिक परामर्श देता हूँ कि वे प्रथम तो लेखन की दृष्टि से लेखक सवारों में अपने को गिनाए ही नहीं । यदि गिनाने का मोह न छोड़ सकें, तो उन्हें अपने को चार सवारों में गिनाना चाहिए । चार सवारों में गिनाने के लिए उन्हें जैन एवं अजैन प्राचीन शास्त्रों एवं ग्रन्थों का व्यापक एवं गंभीर समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए । यदि उन्होंने इस दिशा में कुछ भी अध्ययन किया होता, तो डोली को नर - वाहन मानने से इन्कार न होता उन्हें । मैं यहाँ प्राचीन जैन एवं जैनेतर साहित्य से कुछ उल्लेख, मात्र उनकी जानकारी के लिए ही उपस्थित कर रहा हूँ । वे जरा बाँख गड़ा कर देखें, कि डोली के लिए नर - वाहन शब्द कितने अधिक दीर्घ-काल से प्रचलित होता आ रहा है—

“नरयान-नरवाह्य यानम्—मनुष्य - वाह्य पालखी बगेरे वाहन ।”

शब्द रत्न महोदधि, पृष्ठ ११६०

संग्राहक : पन्यास श्री मुक्तिविजयजी

अठारह पुराणों में पद्म-पुराण लघु महाभारत माना जाता है । बहुत बड़ी गरिमा है पुराण-साहित्य में पद्म-पुराण की । पद्म-पुराण में शिविका अर्थात् डोली के लिए नर - यान अर्थात् नर-वाहन शब्द का स्पष्टतः प्रयोग है । प्रसंग है, मर्यादा पुरुषोत्तम राम लंका विजय के अनन्तर पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या आए हैं । नगर में शोभा-यात्रा के हेतु पुष्पक विमान से उतर कर नर-यान पर सवार हुए हैं । मूल पाठ देखिए—

“पुष्पकादवरुह्याशु नरयानमथारुहत् ।

सीतयासहितो रामः परिवार समावृतः ॥”

पद्म पुराण, पाताल खण्ड, अ. ३, श्लोक २४

मानव नरेन्द्र श्री भोजदेव संस्कृत - साहित्य के महान् विद्वान् नरेश हो चुके हैं । सरस्वती कण्ठाभरणम् एवं पातञ्जल योग-वृत्ति,

राज - मार्तण्ड आदि उनकी अनेक विद्वता पूर्ण रचनाएँ विद्वत् जगत् में मान्य हैं ।

अपनी सुप्रसिद्ध रचना सरस्वती कण्ठाभरणम् में श्री भोजदेव ने पुत्र - वधू की सवारी के रूप में नर - वाहन स्वरूप डोली का उल्लेख किया है—'बेवाहिकुण बहुआ सासुरअं दोलिआइ णिज्जन्ती ।'

हमारे कुछ महानुभाव डोली को नर-वाहन मान भी लेते हैं, किन्तु वे उसे अपवाद का रूप दे कर यत्र-तत्र मुक्त रूप से उपयोग भी करते हैं । अपवाद से हमें इन्कार नहीं है, किन्तु पृष्टव्य है कि यह महनीय मुनियों द्वारा डोली का प्रयोग जो किया जा रहा है, क्या वह अपवाद नौका आदि द्वारा नदी - संतरण आदि के समान आगमोक्त है अर्थात् आगमों में इसका उल्लेख है ? यदि है, तो किस आगम में, कहाँ है ? बात - बात पर आगम की दुहाई देने वाले कुछ समाधान रखते हैं इसका ?

यदि परिस्थिति विशेष से प्रयोग किया जा रहा है, तो वह वर्षानुवर्ष ग्रामानुग्राम ठाठ - बाट के साथ खुल्ला प्रयोग करते हुए विचरण करना, किस दृष्टि से अपवाद क्षेत्र में आता है ? अपवाद परिस्थिति विशेष से जो होता है, वह क्षेत्र एवं समय-बद्ध होता है, दीर्घकाल तक ग्रामानुग्राम विचरण के लिए मुक्त प्रयोग करने के रूप में नहीं ।

क्या यह पाद - विहार है ? यदि यह पाद - विहार है, तो फिर आपके उस शास्त्रीय पाद - विहार का अन्य रूप क्या है ? डोली के प्रयोग को पाद-विहार कहना स्पष्टतः द्वितीय, तृतीय एवं पञ्चम महाव्रत का भंग है ।

परिस्थिति विशेष की आड़ में अपने शरीर संरक्षण का उद्घोष किया जाता है । क्या अपवाद का प्रयोग प्रतिक्षण मरण-धर्माक्षुद्र मृतपिण्ड रूप देह तक ही सीमित है ? धर्म एवं धर्म-संघ के संरक्षण एवं प्रचारार्थ वह कुछ भी अर्थ नहीं रखता ? यह कैसी बात, कि अपनी सुविधा को तो अपवाद का रूप दे कर अपने को चतुर्थ काल के मुनिवर की गणना में सम्मिलित कर लेते हैं, और जब कोई अन्य मुनिवर धर्म के प्रचारार्थ किसी विशेष अपवाद का प्रयोग करता है, तो धर्मनाश की दुहाई दी जाती है ?

डोली यदि सवारी नहीं है : तो फिर क्या है वह ? ।

मुझे किसी की निन्दा के रूप में कुछ कहना नहीं है। फिर भी यह कहना चाहूँगा कि पाँचवें सवार धर्म-दुन्दुभि बजाते हैं कि मुनिराज अपने वरीष्ठ मुनिवरों की डोली को भक्ति प्रेरित हो कर स्वयं उठाते हैं। अतः यह निर्दोष है, वाहन नहीं है। यदि भक्ति की ही बात है, तो रिकशा, कार आदि वाहन भी भक्ति प्रेरित हो कर यदि कोई मुनि स्वयं ड्राइवर के रूप में गाड़ी चलाता है, तो क्या वह अपवाद मुनि के लिए निषिद्ध नहीं रहता है, अपितु वह धर्म बन जाता है ? सवारी की कोटि में से मुक्त हो जाता है ?

स्पष्ट है, व्यर्थ के शब्द - जाल से किसी भी समस्या का हल नहीं होता है। हृदय की पूरी इमानदारी के साथ सत्य को सत्य के रूप में स्वीकार करना ही धर्म है। जो बात मैं कहूँ, वह तो ठीक है, और वही बात यदि दूसरा कोई करता है, तो ठीक नहीं है— यह द्वैत मूलक शब्द - जालों की भ्रान्ति का युग अब नहीं रहा। जनता की आँखें खुल चुकी हैं। जो सत्य के पक्षधर निर्भीक हैं, वे तो जो कार्य करते हैं, वे स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष में करते हैं। उनके पास छिपाने जैसे कोई बात नहीं है। छिपाना स्वयं में मायाचार है। किन्तु, युगानुरूप जो परिवर्तन सत्य के पक्षधर निर्भय-भाव से कर रहे हैं, उन्हीं में से कुछ परिवर्तन अन्य महानुभावों द्वारा भी किए जा रहे हैं। किन्तु, वे कर रहे हैं छिपकर, लोक - दृष्टि बचाकर। ताकि—“रिन्द-के-रिन्द रहें, हाथ से जन्नत भी न जाए।”

अन्दर में सुविधा का भोग भी होता रहे और बाहर में उप्राचार की पताका भी फहराती रहे। परन्तु, ध्यान में रहे वही कार्य अन्दर में पर्दे की ओट में कौन क्या, कैसे कर रहा है—यह चिन्तन=शील लोग सब - कुछ जान गए हैं और जान भी रहे हैं। साम्प्रदायिकता के मिथ्या अहंकार की रक्षा के लिए वे बाहर में कुछ भी न बोले सकें, यह दूसरी बात है। परन्तु, सत्य एक है। उसके लिए अन्दर और बाहर, खुल कर या छिप कर, कोई दो रूप नहीं होते।

मैं और मेरे कुछ साथी, और कुछ नहीं चाहते। हम सबको एकमात्र यही अभीष्ट है, जो सत्य है और जो शिथिलाचार की दृष्टि से नहीं, अपितु युगानुरूप परिवर्तन की दृष्टि से किया जा रहा है, उसे छिपाने के चक्कर में न पड़ें। सत्य का शंख-ध्वनि के

समान मुक्त स्वर होना ही चाहिए । ताकि सर्व-साधारण धर्म-प्रिय जिज्ञासु जनता भी यथार्थ सत्य का सही-सही मूल्यांकन कर सके ।

मेरा किसी के प्रति द्वेष नहीं है । न किसी के प्रति मन में कोई घृणा है । जो चिन्तन - मनन के अनन्तर मेरे अन्तर्-मन को ठीक लगता है, वह मैं स्पष्ट कह देता हूँ । उक्त स्पष्टता से मेरी निन्दा भी होती है । पर, इसकी मुझे कोई चिन्ता भी नहीं है । खरी बात कहने की सहज आदत है, उसमें बनावट जैसा कुछ नहीं है ।

बचने की कोशिश करते हुए भी भाषा कभी कुछ कड़वी भी हो जाती है । उसका एक कारण है—मेरी तरुणार्ई के युग में भारत की आर्य-समाज आदि अनेक धर्म - परम्पराओं में शास्त्रार्थ करने का बहुत अधिक प्रचलन था । जैन-धर्म के ऊपर जब कभी प्रहार होते थे, तो मुझे भी अनेक बार शास्त्रार्थों के मैदान में उतरना पड़ता था और प्रबुद्ध पाठक जानते हैं कि शास्त्रार्थों के वाक् - युद्ध में कभी-कभी शब्दों के व्यंग-बाण भी चलते रहते हैं । यही कारण है कि मेरी भाषा कभी - कभी हठात व्यंग्गात्मक हो जाती है और वह मेरे प्रेमियों को कटु लग जाती है—

सच मुंह से निकल जाता है,
कोशिश नहीं करता ।
शोला हूँ भड़कने की,
गुजारिश नहीं करता ।

उसके लिए मैं हादिक खामेमि के सिवा और क्या कर सकता हूँ ?



डोली यदि सवारी नहीं है : तो फिर क्या है वह ? :

७६

ये हैं नरक लोक के यात्री

भारतीय-संस्कृति की अनेक विध. धर्म-परम्पराओं एवं लोक-कथाओं से संबंधित नरक एवं स्वर्ग का वर्णन प्रायः सर्वत्र उल्लिखित एवं चर्चित है। आस्तिक परम्पराओं का तो यह प्रमुख विषय रहा है। वर्तमान जीवन के बाद आने वाले उत्तर-जीवन की चर्चा आते ही, नरक और स्वर्ग की चर्चा सहसा आ खड़ी होती है।

उक्त चर्चाओं का मूल हेतु क्या है, उसके अनेक उत्तर एवं समाधान हो सकते हैं। परन्तु, मुख्य हेतु है—मानव - जाति को दुराचार - अनाचार आदि पापाचारों से हटा कर दान दया, तप-त्याग, वासना - नियंत्रण आदि शुभ पुण्याचरणों की ओर अभिमुख करना। यह प्रयोग कितना सफल रहा है, यह बात दूसरी है, किन्तु उक्त चर्चाओं को उपस्थित करने वालों के मन के भावों को बहुत अधिक शंका की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है। और भी कुछ हेतु रहे हों, परन्तु हम यहाँ प्रस्तुत अच्छे हेतु को ही प्रमुखता दे कर, अपने लेख की यात्रा शुरू कर रहे हैं।

स्वर्ग की चर्चा अभी एक तट पर छोड़ देते हैं। नरक का चित्रण करना ही, वस्तुतः लेख का मुख्य आधार है। नर-लोक के दुःखों का वर्णन बहुत भयंकर है। नरक के प्राणी को आग में जलाया जाता है, अंग - अंग काट देने वाले असि - पत्र - वन में धुमाया जाता है भयंकर पीड़ा देने वाली कृत्रिम वैतरणी नदी में डुबाया जाता है। पूर्व जन्म के सुरापाई व्यक्ति को भयंकर उकलता हुआ तांबा-लोहा आदि गलाकर पिलाया जाता है। मांस खाने वाले को उसीके ही अंग का तथाकथित मांस काट-काट कर खिलाया जाता है। ढंक एवं गिद्ध आदि पक्षियों से उसके शरीर को नोचाया जाता है। बड़ी भयंकर पीड़ा का दृश्य है। जैनागमों,

वैदिक - पुराणों तथा बौद्ध - ग्रन्थों में इस प्रकार के दुःखों का विस्तृत वर्णन है ।

यह तो रहा संक्षेप में इन दुःखों का वर्णन । किन्तु, सबसे बड़ा प्रश्न है—मनुष्य इतने भयंकर दुःख क्यों पाता है ? ये विष-फल तो अपने ही द्वारा बोए गए पापाचार रूप विष-वृक्ष के दुष्फल हैं । अतः हमें प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार उन्हीं हेतुओं का वर्णन करना है, जो भोगासक्त मूढ़ प्राणी को नरक - लोक की ओर ढकेलते हैं । नरक के दुःखों का एवं उसके कुछ हेतुओं का वर्णन जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र के मृगापुत्रीय उन्नीसवें अध्ययन में तथा सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध में आए हुए निरय - अध्ययन में वर्णित है । अन्य अनेक आगमों में भी यत्र - तत्र प्रस्तुत विषय की चर्चा है । सभी उद्धरणों को उपस्थित किया जाए, तो लेख एक अच्छी पुस्तक का रूप ले सकता है । किन्तु, हम संक्षेप - रूचि पाठकों की जानकारी के हेतु संक्षेप में ही चर्चा कर लेते हैं । दुःखों का नहीं, दुःखों के हेतुओं का वर्णन ही अधिक श्रेयावह है । क्योंकि कारण के सद्भाव में ही कार्य की निष्पत्ति होती है । कारण हटा दिया जाए तो कार्य अपने आप समाप्त हो ही जाता है । उबलते दूध के नीचे से यदि आग हटा दी जाए, तो दूध स्वतः शीतल होना शुरू हो जाता है ।

हमारा लक्ष्य पूर्वाचार्यों की दृष्टि के अनुसार मानव - जाति को दुष्वृत्ति से दूर रखना है, पापाचार से मुक्त करना है । साथ ही, पुण्याचार की ओर प्रेरित करना है । अतः प्रस्तुत प्रसंग में नारकीय दुःखों का हेतु वर्णन ही जीवनोपयोगी है, प्रसंगोचित है ।

स्थानांग सूत्र अभी हमारी आँखों के समक्ष है । चतुर्थ स्थान का चतुर्थ उद्देश्य देखिए—नारकीय आयु-बन्ध के चार कारण हैं—
१. महारम्भ २. महापरिग्रह ३. पञ्चेन्द्रिय वध ४. कुणिमाहार ।

१. महारम्भ का अभिप्राय है—ऐसी भयंकर हिंसा के आयोजन, जिसमें अनेक प्राणियों का भीषण संहार होता हो । जहाँ भयंकर हाहाकार एवं हदन के सिवा अन्य कुछ सुदर्शनीय दृश्य न दिखाई देता हो । स्थूल रूप से कत्तलखाना आदि के उदाहरण पर्याप्त हैं । यह तो एक उदाहरण है । मूल में मनुष्य के तीव्र मर्यादाहीन हिंसा के तीव्र भाव हैं । यह हिंसानुबन्धी तीव्र रौद्र-ध्यान

ये हैं नरक लोक के यात्री ।

८१

का भावात्मक रूप है। इसमें कृत पाप के लिए पश्चात्ताप का कुछ भी अंश नहीं होता।

२. महापरिग्रह का भाव है—धन, संपत्ति या अन्य किसी वस्तु - विशेष के प्रति पागल हो कर दौड़ना। विवेक की आँखें बंद हो जाती है और मनुष्य धन के लिए कृत्याकृत्य का कुछ भी विचार नहीं रखता है। मर्यादाहीन अतिलोभ एवं अतितृष्णा ही अर्थ है—महापरिग्रह शब्द विशेषण के रूप में लगे महा शब्द का। ध्यान रखिए यहाँ 'महा' शब्द महत्ता का सूचक नहीं है, अपितु भीषणाति भीषण भयंकरता का सूचक है। महापरिग्रह के उदाहरणों की विश्व में न पहले कोई कमी रही है, न अब है।

३. पञ्चेन्द्रिय वध—प्राणी जगत् में श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियवाले प्राणी सर्वतः विशिष्ट माने जाते हैं। उनकी सुख - दुःख आदि के अनुभव करने की चेतना - शक्ति विशिष्ट होती है। अतः शिकार आदि मनोविनोद के रूप में तथा अन्य किसी बलि प्रदान आदि के प्रयोग में पञ्चेन्द्रिय प्राणी - वध में नरक गति की हेतुता स्वतः समाविष्ट हो जाती है। मनुष्य अपने किसी स्वार्थ विशेष अथवा मनोविनोद आदि के रूप में मर्यादाहीन निर्दयता के साथ पञ्चेन्द्रिय प्राणी का वध करता है। और, उक्त प्रक्रिया में पश्चात्ताप तो क्या, हर्ष एवं गर्व की अनुभूति करता है, तो ऐसा रूढ़-परिणामी व्यक्ति नरक में नहीं जाएगा, तो और कहाँ जाएगा ?

४. कुणिमाहार, मांसाहार का वाचक है। मांसाहार मनुष्य का प्राकृतिक भोजन नहीं है। कुछ स्थानों की परिस्थिति विशेषताओं को छोड़कर स्वाद-लोलुपता ही मुख्य हेतु है। मांसाहार के द्वारा मूक पशु - पक्षियों का इतना भयंकर संहार हुआ है कि अनेक प्राणी-शास्त्रियों का मत है कि इस संहार से पशु-पक्षियों की अनेक जातियाँ ही इस धरती पर से नष्ट हो गई हैं। पूर्वकाल के कापालिक परंपरा के तापस, तंत्र-योग के भ्रम में मानव - मांस तक का भक्षण करते रहे हैं। आज कल भी समाचार-पत्रों की सूखियाँ, जो पढ़ने में आती है, तो हमारा रोम - रोम कांप उठता है। अनेक होटलों में मनुष्य-मांस का, अधिकतर छोटे बच्चों के मांस का प्रयोग किया जा रहा है। जब मनुष्य किसी तृष्णा एवं लोलुपता

विशेष के वात्याचक्र में भ्रान्ति-ग्रस्त हो जाता है, तो उसका सद्-असद्-विवेक सर्वथा नष्ट हो जाता है। फलतः तब वह मानवता की सीमा में से निकल कर क्रूर दानवता की सीमा में प्रवेश कर जाता है। आप जानते हैं, अन्ततः दानवता का क्या परिणाम होता है ?

आचार्य उमास्वाति सूत्र शैली के आचार्य हैं। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध तत्त्वार्थ सूत्र में, प्रारम्भ में स्थानांग सूत्र में कहे गए चार हेतुओं को प्रारम्भ के दो हेतुओं में ही समाविष्ट कर दिया है। उनका सूत्र है—“बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः १-६, १६.”

मर्यादाहीन अतीव आरम्भ एवं अतीव परिग्रह नारकीय आयु के हेतु हैं। पञ्चेन्द्रिय-वध और मांसाहार उक्त दोनों में समाविष्ट हो जाते हैं, यह स्पष्ट है।

नरक गति के चार हेतुओं का इतना विस्तृत रूप है कि इसमें चोरी, बलात्कार, मुक्त व्यभिचार, लूट-मार, विवेकहीन शोषण, मिथ्या दोषारोपण, निन्दा, छल-प्रपंच आदि अनेक हेतुओं का भी यथास्थान समावेश हो जाता है। इन सबका भी तीव्र रौद्र रूप से किया गया प्रयोग एवं आचरण नरक की हेतुता में समाहित है।

कथ्य की सीमा नहीं है, किन्तु कथ्य को अक्षरांकित करने की तो सीमा है। प्राचीन आगम तथा आगमोत्तर साहित्य में नरक गति के दुःखों तथा उसके हेतुओं का वर्णन इतना अधिक है, उसे यहाँ सामूहिक रूप से अक्षरांकित करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है। अतः यत्किञ्चित् निर्देशन करके लेख दूसरी ओर मोड़ ले रहा है।

वैदिक-साहित्य में वेदों के अनन्तर पुराणों का काफी महत्त्व है। लोक जीवन में पुराण ही अधिक प्रचलित रहे हैं। पुराणों की अनेक वार्ताओं से भले ही मैं सहमत नहीं हूँ, किन्तु लोक - जीवन के निर्माण में एवं भारतीय - संस्कृति की प्रतिष्ठा में उनका जो अपना एक महत्त्व है, उसे योही अपदस्थ नहीं किया जा सकता। पुराणों में भी मानव - जाति को पापाचारों से मुक्त रखने की, जो अनेक प्रक्रियाएँ एवं दिशाएँ हैं, उसमें नरक का वर्णन भी अपना एक अलग स्थान रखता है। अधिक विस्तार में तो न जाऊँगा, किन्तु पुराणों के नरक वर्णनों का संक्षेप रूप से उल्लेख अवश्य

ये हैं नरक लोक के यात्री :

८३

करना चाहूँगा । वह वर्णन केवल बाहर की चर्म - चक्षु से ही नहीं, अपितु अन्दर की ज्ञान-चक्षु से भी देखा एवं अनुभव किया जाए, तो मैं समझता हूँ कि भयंकर-से-भयंकर पापाचारी भी अपने अंगी-कृत पापाचार से अर्थात् दुराचार एवं अनाचार से अवश्य ही अपने को मुक्त करना चाहेगा ।

पञ्चपुराण, पुराण - साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण पुराण है । उसमें नरक के दुःखों का वर्णन तो है ही, जैसा कि मैं पूर्व में लिख आया हूँ । साथ ही नरक के हेतुओं का जो वर्णन है, वह भी काफी महत्त्वपूर्ण है । मैं उसीका यहाँ संक्षेप में उल्लेख कर रहा हूँ । दत्ता-वधान होकर पढ़िएगा —

दाम्भिकाश्च कृतघ्नाश्च ते वै निरयगामिनः । — भूमिखण्ड, ६६, ३.

— जो लोग छल-प्रपंच में लगे रहते हैं और किए गए उपकार की अवगणना करके कृतघ्न होते हैं, वे नरकगामी हैं ।

पुरुषाः पिशुनाश्चैव, मानिनोऽनृतवादिनः ।

असम्बद्ध प्रलापाश्च से वै निरयगामिनः ॥ ६६, ५.

— जो व्यक्ति पिशुन-चुगलखर हैं, अभिमानी हैं, असत्य भाषी हैं, असम्बद्ध प्रलाप करने वाले हैं, वे नरकगामी हैं ।

ये परस्वापहर्तारः परदूषण-सूचकाः ।

परस्त्रीगामिनी ये च ते वै निरयगामिनः ॥ ६६, ६.

— जो दूसरों के धन-संपत्ति का अपहरण करते हैं, द्वेष वश जो दूसरों के दूषणों का प्रचार करते हैं, और जो परस्त्री गामी हैं, वे नरकगामी हैं ।

प्राणिनां प्राणहिंसायां ये नरा निरतः सदा ।

परनिन्दारता ये वै ते वै निरयगामिनः ॥ ६६, ७.

— जो प्राणियों के प्राणों की हत्या में सदा संलग्न रहते हैं और पर-निन्दा में अनुरत रहते हैं, वे नरकगामी हैं ।

सुकूपानां तडागानां प्रपानां च परन्तप !

सरसार्चैव भेक्षारो नरा निरयगामिनः । ६६, ८.

— जो स्वच्छ कूपों, तडागों, प्रपाओं (प्याऊ) और सरोवरों का उद्भेदन करते हैं, उन्हें नष्ट करते हैं, वे नरकगामी हैं ।

काष्ठैर्वा शंकुभिर्वापि शूलैश्चमभिरेव वा ।

ये मार्गानुपगन्धन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ९६, १३

—जो काष्ठ अर्थात् लकड़ों से, शंकुओं से, कांटों से, और पत्थरों से यात्रियों के परम्परागत चालू मार्गों का अवरोधन करते हैं, रुकावट डालते हैं, वे नरकगामी हैं ।

क्षेत्रवृत्ति गृहच्छेदं प्रीतिच्छेदं च ये नरा ।

आशाच्छेदं प्रकुर्वन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ९६, १७

—जो मनुष्य क्षेत्रवृत्ति, गृहच्छेद—घर का नाश, परस्पर प्रेम का भंग, आशाओं का भंग करते हैं, वे नरकगामी हैं ।

अनाथं विक्लवं दीनं रोगात्तं वृद्धमेव च ।

नानुकम्पन्ति ये मूढास्ते वै निरयगामिनः ॥ ९६, १८

—जो मूढ़-जन, अनाथ, अपंग, दीन, रोगी, और वृद्ध आदि की यथोचित अनुकम्पा भाव से सेवा नहीं करते, वे नरकगामी हैं ।

वर्णन बहुत विस्तृत है, किन्तु कुछ विशेष कार्यों का उल्लेख मात्र करके पद्मपुराण की उक्त चर्चा को किनारे पर लगा रहे हैं ।

जो लोग, नास्तिक, मर्यादाभंगी और काम विषयक भोग-लोलुप हैं, जो दान देने की प्रतिज्ञा करके बाद में इनकार करते हैं, जो दूसरों की पत्नी, नौकर और बच्चों को बहकाते हैं, जो माता - पिता और गुरुजनों की यथोचित सेवा नहीं करते हैं, जो आश्रम, कन्या, सुहृद, साधु, गुरु-जन की सेवा आदि सत्कर्म, नहीं करते और जो द्वार पर भोजनार्थ आये हुए पूज्य अतिथियों को इनकार करते हैं, तथा समय पर आलस्यवश अपने आराध्य देव का स्मरण नहीं करते हैं—इत्यादि सत्कर्मों से भ्रष्ट तथा कुकृत्यों में सहर्ष संलग्न अज्ञानी जन भी नरकगामी होते हैं ।

पद्मपुराण के उपर्युक्त नरक गामीता के वर्णन से प्रस्तावित विषय काफी स्पष्ट हो जाता है । अन्य पुराणों में भी इसी प्रकार के प्रायः मिलते - जुलते वर्णन हैं । किन्तु वैष्णव समाज में विष्णु पुराण का प्रायः सर्वाधिक महत्त्व है । अतः लेख का उपसंहार करते हुए विष्णु पुराण, द्वितीय अंश में से भी प्रस्तुत विषय से संबंधित कुछ विशिष्ट उल्लेखों को सूचना देने का मन हो गया है—

कूटसाक्षी तथा सम्यक् - पक्षपातेन यो वदेत् ।

यश्चान्यदनृतं वक्ति स नरो याति रौरवम् ॥— ६, ७

ये हैं नरक लोक के यात्री :

८५

—जो पुरुष कूट-साक्षी (भूठी गवाही देने वाला) है तथा जो पक्षपात से यथार्थ नहीं बोलता है और जो मिथ्या - भाषण करता है, वह रौरव नरक में जाता है ।

वेगीपुयवहे चैको याति मिष्टान्नभुङ्ग नरः ॥ २, १८

—दुस्साहसी, निष्ठुर कर्म करनेवाला तथा साथियों को वंचित कर अकेले ही मिष्टान्न आदि सुस्वादु भोजन करनेवाला उस पूयवह नरक में जाता है—जहाँ मवाद - पस आदि का गंदा प्रवाह बहता रहता है ।

असिपत्रवनं याति वनच्छेदी वृथैव यः २, २४

जो विशिष्ट उद्देश्य के बिना वृथा ही वनों को काटता है, वह असिपत्र-वन नरक में जाता है—जहाँ वृक्षों के पत्ते भी तलवार की तरह से अंग-विच्छेद करने वाले होते हैं ।

घृणित कार्यो का परिणाम अन्ततः घृणित ही होता है । यह मूल सिद्धान्त है, भारतीय - दर्शन का । श्रमण भगवान् महावीर ने कहा था—“कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।”

—अपने किए गए निकाचित कर्मों को भोगे बिना कदापि मुक्ति अर्थात् छुटकारा नहीं है । वैदिक ऋषि भी कहते आए हैं—“ना भुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।” कोटी - कोटी कल्पों के पश्चात् भी बिना भोगे कृत कर्म क्षीण नहीं होते हैं ।

क्या ही अच्छा हो, आज का भारतीय जन - समाज अपनी पुरातन संस्कृति के मूर्धन्य ऋषि, मुनियों एवं ज्ञानियों के उपदेशों को जो भूलता जा रहा है, उन्हें पुनः अपनी स्मृति में लाए एवं स्वार्थता से ग्रस्त अन्याय-अत्याचार के दुष्पथ का अन्तर्-निष्ठा के साथ पूर्णतया परित्याग करे । एक अच्छे भद्र समाज की रचना के लिए उक्त उपदेश केवल वचन ही नहीं है, अपितु वचनामृत है । अमृत वह है, जो मृतप्राय होते हुए व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, संस्कृति एवं धर्म - परम्पराओं को पुनः प्राणवान बनाता है । मुझे प्रसन्नता होगी, जिज्ञासु अध्येताओं में से कोई भी महानुभाव उक्त निर्दिष्ट वचनपथ पर कुछ दूर तक भी सही रूप से चल सका, तो उसका सामाजिक जीवन मंगलमय होगा । व्यक्ति का मंगल समाज की उदात्त मंगलमय चेतना की सुरक्षा में ही सुरक्षित है, यह बात अर्हनिश ध्यान में रखने योग्य है ।



स्वर्ग - लोक के ये यात्री

भू-मण्डल पर विश्व-साहित्य में नरक और स्वर्ग का विभिन्न रूपों में वर्णन उपलब्ध होता है । उक्त वर्णन को धार्मिक - परम्पराओं एवं सम्प्रदायों में मुख्यता है ही, प्रत्युत लोक - जीवन की किवदन्तियों एवं लोक-कथाओं में भी कम चर्चा नहीं है । भारतीय साहित्य में तो इतना अधिक वर्णन है, कि जिसे अमुक सीमाओं में आबद्ध करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है ।

हम अपने पहले एक लेख में नरक-जीवन के कष्टों और उन कष्टों के हेतुओं का अमुक अंश में दिग्दर्शन करा चुके हैं । प्रस्तुत में स्वर्ग का वर्णन लेखनार्थ अभीष्ट है ।

प्राचीन जैन-आगम एवं आगमोत्तर - साहित्य तथा वैदिक-धर्म की विभिन्न परम्पराओं के साहित्य में देवों का काफी रोचक वर्णन है ।

देवों की विभिन्न जातियाँ हैं । वे जातियाँ, कहाँ किस स्थिति में रहती हैं ? उनके शरीर का प्रमाण क्या है ? आयु आदि किस की कितनी है ? इत्यादि विषयों का वर्णन काल - प्रवाह में काफी विस्तार ले चुका है ।

देवताओं के सुखों का वर्णन तो रोचकता की दृष्टि से काफी विचित्र है । देव, गर्भ से नहीं, पुष्प - शय्या में से जन्म लेते हैं । जन्म लेते ही अन्तर्मुहूर्त्त जैसे स्वल्प - काल में नव - युवा बन जाते हैं और यह युवा - अवस्था मृत्यु पर्यन्त ज्यों - की - त्यों बनी रहती है । उन्हें कभी बुढ़ापा आता ही नहीं । अतः उन्हें निर्जर एवं त्रिदस आदि नामों से अभिहित किया है । वे इच्छानुसार नाना रूप धारण कर सकते हैं । दृश्य से अदृश्य हो सकते हैं ।

देवियों की आयु की अपेक्षा देवों की आयु दीर्घ-दीर्घतर होती है । अतः एक देव अपने जीवन-काल में कितनी देवियों का प्रयोग

कर सकता है, इसकी कल्पना नहीं कर सकते। उच्च पदस्थ देवों के साथ देवियों का सहस्राधिक संख्या में जमघट रहता है। देवों के काय-भोग सम्बन्धित कुछ वर्णन तो इतने अधिक अश्लीलता में वर्णित किए गए हैं, कि उन्हें अंकित करने में लेखनी लज्जाने लगती है। उक्त तथा अन्य तथाकथित वर्णन कितने विश्वास योग्य हैं, आँख बन्द कर मानने योग्य हैं, यह सब पाठकों की अपनी-अपनी विश्वास वृत्ति पर छोड़ देता है अभी।

जो-कुछ लिखा मिलता है, उस पर से इतना तो फलित होता है कि देवलोक एक सुख भूमि है। और उस सुख को पाने के लिए मनुष्य को कदाचार से हट कर सदाचार के पथ पर चलना चाहिए। जब तक व्यक्ति असमाजिक जीवन के व्यामोह में दुराचार-अनाचार में फँसा रहेगा, तब तक उसे कथमपि स्वर्ग की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। अतः हम यहाँ उस सुखोपलब्धि के हेतुओं वर्णन करना ही एक अच्छे समाज की रचना के लिए उपयुक्त समझते हैं।

स्थानांग सूत्र के चतुर्थ स्थान के चतुर्थ उद्देश्य में देवत्व प्राप्ति के चार हेतु बताए हैं। तत्रस्थ मूल पाठ इस प्रकार—

“चउहि ठाणेहि जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा—१. सराग-संजमेणं २. संजमासंजमेणं ३. बालतवो कम्मेणं ४. अकामनिज्जराए ।”

महान् आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र में भी देवगति के आयुष्य बंध के हेतुओं का कुछ थोड़े से हेर-फेर के साथ यही वर्णन है। आचार्यश्री का सूत्र है—

“सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिजंराबालतपांसि दैवस्य ।”

—तत्त्वार्थ सूत्र, ६, २०.

मात्र संख्या क्रम का ही अन्तर है, और कुछ अन्तर नहीं है। दोनों का भावार्थ एक ही है। हमें भाव से मतलब है, संख्या क्रम के आगे - पीछे के हेर - फेर से नहीं।

१. **सरागसंयम** : सर्व विरत संयमी मुनि जब तक राग-भाव से मुक्त नहीं होता है, तब तक वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता, अपितु स्वर्ग गति ही प्राप्त करता है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो संयम देव - गति का नहीं, मुक्ति का हेतु है। जो महानुभाव संयम को

मुक्ति एवं देव-गति दोनों की हेतुता के रूप में उपस्थित करते हैं, वे भ्रम में हैं। एक ही कारण से बन्ध और मोक्ष रूप-दो विपरीत कार्य कदापि संभव नहीं हो सकते। अतः बन्ध हेतुता संयम में नहीं, अपितु संयम के साथ रहे हुए राग - भाव में है। उक्त सिद्धान्त के पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द ने काफी स्पष्टता के साथ उपस्थित किया है—

“येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन हि रागस् तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥”

—साधक की साधना के जिस अंश में चारित्र्य है, उस अंश में बन्धन नहीं है। किन्तु, जिस अंश में राग है, मात्र उस अंश में ही बन्धन है।

३. **संयमासंयम** : संयमासंयम एक मिश्रित शब्द है, जो मिश्रित अर्थ को अभिव्यक्त करता है। गृहस्थ साधक के जीवन में अमुक अंश में संयम है और अमुक अंश में असंयम। अतः संयमासंयम में राग का अस्तित्व तो स्वतः स्पष्ट है।

३. **बाल - तप - कर्म** : बाल शब्द यहाँ अज्ञान स्थिति का वाचक है। किसी प्रकार का सदसद् विवेक प्राप्त किए बिना, जो यों ही परम्परागत तथा मूढ़तावश शुभ - भावात्मक स्थिति में काय-क्लेश रूप तप करता है, वह भी निम्न-स्तर की देवगति को प्राप्त कर लेता है।

४. **अकाम निर्जरा** : बिना भावना के कर्मों की निर्जरा होना, यह मूलार्थ है उक्त पद का। काम शब्द यहाँ भावनावाची है। अतः जो व्यक्ति किसी विशेष परतन्त्रता के कारण किसी के हठात किए गए अवरोध से अकुशुल-कर्म की निवृत्ति करता है, साथ ही आहार आदि का त्याग करता है एवं अन्य कष्ट भी सहन करता है। किन्तु, बीच में यदा - कदा जो शुभ भाव आ जाते हैं, तो उससे भी देवगति की उपलब्धि हो सकती है।

उपर्युक्त हेतु में निर्जरा शब्द प्रयुक्त हुआ है। निर्जरा बन्ध का हेतु नहीं होती, अपितु अमुक अंश में बन्ध-मुक्ति का हेतु होती है। अतः यहाँ निर्जरा शब्द सविपाक निर्जरा के रूप में है। फिर

स्वर्ग-लोक के ये यात्री ।

८६

भी उसके साथ अमुक अंश में शुभ भावों का होना ही देव-गति के बन्ध का हेतु है ।

उक्त वर्णन सूत्र शैली के कारण संक्षिप्त शब्दों में उल्लिखित है । अतः उक्त हेतुओं में मूल आगमों में अन्यत्र कथित तथा आगमोत्तर - साहित्य में विशेष रूप से कथित, देव-गति के विस्तृत हेतुओं का वर्णन भी इसमें समाहित हो जाता है ।

देव एवं गुरु की भक्ति, माता - पिता आदि गुरुजनों की सेवा वृद्ध, रोगी, किसी अभावग्रस्त की सेवा, अतिथि - सत्कार, दान, दया, दूसरों के सद्गुणों की प्रमोद - भाव से प्रशंसा, लोक-जीवन कल्याण हेतु श्रेष्ठ संस्थाओं की स्थापना एवं संचालन, सहिष्णुता, क्षमाशीलता, सद्भावना आदि अनेकानेक सत्कर्म ऐसे हैं, जो व्यक्ति को देव - गति की यात्रा पर ले चलते हैं । हमने यहाँ संक्षेप रुचि के कारण ग्रन्थों के नाम के साथ विशेष वर्णन न कर मात्र परिचय के रूप में यत्किंचित निर्देशन किया है ।

भारत की आस्तिक परम्पराओं में जैन - परम्परा के साथ अन्य भी धार्मिक-परम्पराएँ हैं । कोई भी धार्मिक-परम्परा क्यों न हो, वह नरक-स्वर्ग के वर्णन से अस्पृष्ट नहीं रह सकती है । अतः हम यहाँ वैष्णव साहित्य के पुराणों में से भी कुछ वर्णन उपस्थित कर रहे हैं । वर्णन की संक्षिप्तता हमारी अपनी है । किन्तु, वह मानवीय - जीवन के कल्याण के लिए बहुत अधिक उपयुक्त है । संक्षेप और विस्तार अपने में कोई अर्थ नहीं रखते हैं । मूल अर्थ है, सदाचार रूप से कर्तव्य का निष्ठा के साथ आचरण और कदा-चार रूप कुत्सित कर्तव्य का निराकरण । समस्त वर्णन पर से यही दृष्टि लेनी चाहिए—“आचारः प्रथमो धर्मः” आचार अर्थात् सदा-चार, शिष्टाचार, कल्याणकारी सत्कर्म, यही मुख्य धर्म है ।

देव-गति के हेतुओं का वर्णन पद्मपुराण के भूमि-खण्ड में इस प्रकार है—

“ सत्येन तपसा क्षान्त्या दानेनाध्ययनेन च ।

ये धर्मानुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, २१

—सत्य, तपस्, क्षमा, दान और अध्ययन इत्यादि धर्मों का जो अनुवर्तन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

“मातापित्रौश्च शुश्रूषां ये कुर्वन्ति सदाद्रताः ।

वर्जयन्ति दिवास्वप्नं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, २४

—जो सदा आदर एवं भक्ति-भाव से माता - पिता की सेवा-शुश्रूषा करते हैं, तथा जो आलसी बन कर दिन में यों ही सोये पड़े नहीं रहते, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

“सर्वहिंसा-निवृत्ताश्च साधु - संग्रहाश्च ये नराः ।

सर्वस्यापिहिते - युक्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, २५

—जो मनुष्य सब प्रकार के हिंसा कर्मों से निवृत्त रहते हैं, सदाचारी सत्पुरुषों की संगति करते हैं, सबके हित साधन में अनु-रक्त रहते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

“सर्वलोभनिवृत्ताश्च सर्वसाहाश्च ये नराः ।

सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, २६

—जो सब प्रकार के लोभ - लालच से निवृत्त रहते हैं, सब-कुछ सहन करने की क्षमता रखते हैं और सबके आश्रयदाता—आधारभूत होते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

“सहस्र परिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः ।

त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, २७

—जो हजारों साधारण जनों को अपने साथ लगाये रहते हैं । हजारों को ही आवश्यकतापूर्ति हेतु दान देते हैं - और हजारों लोगों की यथाप्रसंग रक्षा करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

“ये याचिताः प्रहृष्यन्ति प्रियं दत्त्वा वदन्ति च ।

त्यक्त दानफलेच्छाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, ३२

—जो किसी के द्वारा याचना करने पर प्रसन्न होते हैं, और अभोष्ट दान दे कर प्रिय वचन बोलते हैं, साथ ही दिए गए दान के प्रतिफल की कोई कामना नहीं रखते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ।

“स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषा स्वर्गगामिनः ।” ६६, ३२

—जो महानुभाव स्वयं श्रम द्वारा उपार्जन कर के दान देते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

“द्विषतामपि ये दोषान्न वदन्ति कदाचन ।

कीर्तयन्ति गुणान्येव ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, ३४

स्वर्ग-लोक के ये यात्री :

६१

—जो अपने विरोधियों के दोषों का भी जनता में कदापि खुला नग्न प्रचार नहीं करते हैं, अपितु दूसरों के गुणों का ही यथा-प्रसंग यत्र-तत्र कीर्तन करते रहते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ।

“ये नाम भागान्कुर्वन्ति क्षुत्तृष्णा श्रमपीडिताः ।

हन्तकारस्याकतारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, ३८

—जो व्यक्ति स्वयं भूख-प्यास और श्रम से पीड़िते होते हुए भी प्राप्त सामग्री का साथियों में समविभाग करते हैं, और दूसरों को सहयोग देने हेतु सदा तत्पर रहते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ।

“वापीकूपतडागानां प्रपानां चैव वेश्मनाम् ।

आरामाणां च कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, ३९

—जो जन हित की दृष्टि से वापी, कुएँ, तडाग, प्रपा, अति-थिगृह तथा उद्यानों का निर्माण करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ।

“यस्मिन्कस्मिन्कुलेजाता बहुपुत्राः शतायुषः ।

सानुक्रोशाः सदाचारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥” ६६, ४१

—जिस किसी भी कुल में पैदा हुए हों, किन्तु जो दयालु हैं, सदाचारी हैं, वे बहुपुत्रन शतायु मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

“निन्दितानि न कुर्वन्ति कुर्वन्ति विहितानि च ।

आत्मशक्ति विजानन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६६, ५०

—जो अशुद्ध निन्दित कर्म नहीं करते, सदैव शुद्ध विहित कर्म करते हैं और अपनी कर्तव्य-शक्ति को अच्छी तरह जानते-समझते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

श्री पद्म पुराण के अनुसार ही प्रायः अन्य पुराणों में भी स्वर्ग-गमन के हेतुओं का वर्णन है । पहले विचार था कि अन्य पुराणों के उद्धरण भी दिए जाएँ । किन्तु, वर्णन में प्रायः एकरूपता ही अधिक है । अतः व्यर्थ के शब्द - विस्तार से क्या लाभ ? जिन लोगों को अपने ज्योतिर्मय भविष्य का निर्माण करना है, उनके लिए इतना ही पर्याप्त है । जीवनापयोगी एक अक्षर और पूरा शास्त्र, प्रायः समकक्ष ही होते हैं । जो आत्माएँ जीवन की पवित्रता के उच्च शिखर पर होती हैं, उनके लिए उन स्वर्ग और नरकों के वर्णन का कोई अर्थ नहीं है । आत्मभाव की परम लीनता

में रमणशील योगीजनों का एक ही आदर्श रहता है—बन्धन-मुक्ति । अच्छा हो या बुरा हो—बन्धन, बन्धन है । अतः उनकी दृष्टि में स्वर्ग - नरक दोनों ही अनुपयोगी हैं । नरक, भय के द्वारा जनमानस को शासित करता है और स्वर्ग प्रलोभन के द्वारा । प्रस्तुत प्रसंग पर मुस्लिम महिला संत राबिया याद आ जाती है ।

राबिया निष्काम चेतना की धनी थी । नरक के भय से भी मुक्त और स्वर्ग के प्रलोभन से भी । अतः वह कभी कहीं जाती, तो एक हाथ में पानी का घड़ा रखती और दूसरे हाथ में जलती मशाल । लोग आश्चर्य से पूछते—राबिया, यह क्या माजरा है ?

वह उत्तर देती—“नरक के भय और स्वर्ग के प्रलोभनों ने साधक की धर्म-साधना की निष्काम - भावना को दूषित कर रखा है । कुछ लोग नरक के भय से ग्रस्त हैं, तो कुछ लोग स्वर्ग के सुखोपभोगों के प्रलोभन से । मैं जल - घट के पानी से दोजख (नरक) की आग बुझाना चाहती हूँ और इस प्रज्वलित मशाल से बहिस्त (स्वर्ग) को भस्म कर देना चाहती हूँ, ताकि धर्म - साधक निष्काम भाव से धर्म के सत्पथ पर अग्रसर हो सके ।

भारतीय सन्त हो, महिला सन्त राबिया हो या अन्य कोई हो, ये उच्च - स्तरीय साधक हैं । इन्हें स्वर्ग - नरक से कुछ लेना-देना नहीं । प्रश्न है, कामना - प्रधान साधारण जन का । वे स्वर्ग-नरक के वर्णनों पर से ही यदि कदाचार से बचकर सदाचार के मार्ग पर चल सकें, तो अच्छा है । चिन्तन की कसौटी पर नरक-स्वर्ग के स्थान-स्थिति आदि के सम्बन्ध में सम्भव है कुछ विचारकों को कल्पित अंश भी मालूम पड़े । मैं स्वयं चिन्तन का मुक्त पक्षधर हूँ । किन्तु, मुझे यहाँ इतना ही अभीष्ट है कि साधारण जनता उस अबोध बालक के समान है, जो रोता-रोता दोपैसे का मिष्टान्न पाकर हँसने लग जाता है । और अपने अध्ययन सेवा, सत्कर्म आदि कार्यों में जुट जाता है, कि नो अच्छी बात है । बस, इतना - सा अभिप्राय है, प्रस्तुत लेख का । कोई इतना - सा भी समझ ले, तो वह मुझे इस लेख की सफलता के लिए पर्याप्त है ।

जुलाई १९८८



स्वर्ग-लोक के ये यात्री :

६३

सशक्त श्रम में ही श्री का निवास है

भूमण्डल पर मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो श्री का उपासक है, लक्ष्मी का अभिलाषी है और रात - दिन धन के पीछे अन्धा होकर दौड़ने वाला एक पागल व्यक्ति है। मनुष्य लक्ष्मी की उपलब्धि के लिए क्या - क्या वहीं करता ? धन के लोभ में वे अन्धे व्यक्ति भी मिलते हैं, जिनमें कितने ही पितृहन्ता हैं, मातृहन्ता हैं, भ्रातृहन्ता हैं, पुत्रहन्ता हैं और पुत्रीहन्ता भी हैं। एक और हन्ता भी हैं, जो अभीष्ट दहेज न लाने के कारण पुत्रवधु एवं पौत्रवधु तक की हत्या कर देते हैं अथवा उन्हें प्रताड़णाओं के द्वारा स्वयं हत्या करने के लिए मजबूर कर देते हैं।

धन की अभितृष्णा में विक्षिप्त व्यक्ति भूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, अपने - पराये का भी कोई अर्थ नहीं रखते हैं। उन्हें तो बस धन चाहिए। समाचार पत्रों में ही नहीं, प्रत्यक्ष में देख सकते हैं कि जीवन-रक्षक औषधियों में भी जीवन-भक्षक विष तत्त्वों की मिलावट करते हैं। पौराणिक ग्रन्थों में पिशाचों, दैत्यों एवं दानवों का वर्णन पढ़ा या सुना होगा। किन्तु, प्रत्यक्ष में आज भी यदि आप पिशाच और दैत्य देखना चाहते हैं, तो प्रत्यक्ष में इन नररूप धारी धन-लुब्ध दैत्यों - पिशाचों को देख सकते हैं।

परन्तु, इन धनलुब्ध मानवों को विचार करना चाहिए—लक्ष्मी एक देवी सम्पत्ति है, उसका साक्षात्कार, दर्शन या उपलब्धि अन्यत्र कहीं नहीं है। उसका दर्शन हो सकता है, एक मात्र श्रम में। श्रम में ही 'श्री' का निवास है। पुरुषार्थ युक्त हाथ के मन्दिर में ही 'श्री' देवी विराजमान है। प्राचीन महापुरुषों ने उक्त सन्दर्भ में उचित ही कहा है—“कराग्रे वसते लक्ष्मी।”

कुछ महानुभाव ऐसे भी हैं, जो दुराचार एवं अनाचार का पथ तो नहीं अपनाते लक्ष्मी के लिए, किन्तु भाग्य की माला जपते हुए बैठे रहते हैं। उन्होंने सिद्धान्त बना लिया है—“भाग में जो होगा, वही मिलेगा।” श्रम करने से क्या होता है? कुछ नहीं होता है। कभी कहा होगा, किसी प्रसंग में किसी ने—“भाग्यं फलति सर्वत्र, न च विद्या, न च पौरुषं।” कोई भी स्थिति हो, सर्वत्र भाग्य ही फलता है। भाग्य ही सफलता देता है। भाग्य के बिना न कोई विद्या ही काम आती है, न कोई पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ। जो व्यक्ति आलस्य-ग्रस्त हैं, कर्म से जो चुराते हैं, श्रम से भागते हैं, उन्होंने ही उक्त सूत्र को जीवन का सिद्धान्त वाक्य बना रखा है। मैं भाग्य को अमुक अंश में मान्यता देता हूँ, किन्तु वही सब-कुछ नहीं है। किसी भी कार्य की निष्पत्ति में हेतु के रूप में अनेक कारणों की जो लम्बी शृंखला है, उसमें एक कोने में भाग्य भी है। अतः उसका भी कुछ अर्थ है। उसे भी उचित मूल्य दिया जा सकता है। किन्तु, अन्धे होकर इतना मूल्य मत दो, ताकि स्वयं निर्मूल्य अर्थात् मूल्यहीन हो जाओ। किन्तु, देश का दुर्भाग्य है कि देश में प्रायः ऐसे ही व्यक्ति अधिक मिलते हैं, जो एकान्त भाग्यवाद की काली छाया में स्वयं में मूल्यहीन हो गए हैं। उन्होंने यत्न-तत्न प्रसंगवश कहे गए, श्रम - विरोधी भाग्यवादी सूत्र तो रट लिए हैं, किन्तु पुरुषार्थवाद के उन सूत्रों को भूल गए हैं, जो मृत जीवन के लिए संजीवनी का काम देते हैं। आलस्यवश मुर्दे की तरह पड़े हुए लोग जिन सूत्रों के सहारे उठ कर महाबली भीमसेन की तरह जीवन-संग्राम में जूझने लगते हैं—उन श्रमवादी सूत्रों में से यहाँ एक सूत्र उपस्थित है—

“उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।

दैवेन देयमिति का पुरुषाः वदन्ति ॥”

श्रमहीन मानवों का एक और भी दल है, जो निरन्तर आकाश की ओर आँख लगाये बैठा है, उसकी दृष्टि ग्रहों एवं नक्षत्रों के अच्छे-बुरेपन पर लगी हुई है। हाथ में जन्मकुण्डली का बंडल लिए फिरते हैं। उनकी मान्यता है, कोई अच्छा ग्रह या नक्षत्र आएगा, तो अपने आप धन की वर्षा हो जाएगी। जो भी इच्छा होगी, वह सब पूरी हो जाएगी। परन्तु, उन्हें पता होना

सशक्त श्रम में ही श्री का निवास है :

६५

चाहिए, कि घरा पर से करोड़ों, अरबों, खरबों मीलों की दूरी पर रहे हुए इन तथाकथित ग्रहों का तुम पर क्या प्रभाव पड़ सकता है ? जिस दिन जिस क्षण तुमने जन्म लिया, उसी दिन और उसी क्षण अन्य भी हजारों बालकों ने जन्म लिया है। मानव बालक ही क्यों, पशु, जलचर, कीट - पतंग आदि असंख्य - अनन्त प्राणियों ने भी जन्म लिया है। यदि तुम्हारी जन्म कुण्डली में अच्छा ग्रह है। और, उससे ही तुम्हारा सब - कुछ अच्छा होना है, तो उपर्युक्त तुम्हारे साथ ही जन्म लेने वालों का क्या होगा ? क्या वे भी धन-कुबेर बन जाएंगे, राजाधिराज बन जाएंगे ? ये सब व्यर्थ की बातें हैं। भारतवर्ष के ऋषि - मुनि कर्म को महत्त्व देते हैं। मनुष्य का जैसा कर्म होता है, तदनुकुल ही स्थिति मोड़ लेती है। पूर्व जन्म तो हमारे सामने नहीं है। प्रस्तुतः जन्म ही हमारे सामने है। अतः यहीं के कर्म को देखें कि वह कैसा है—अच्छा है या बुरा है ? अभद्र कर्म को छोड़कर भद्र कर्म के साथ श्रम का सम्बन्ध जोड़ दो— 'श्री' अपने आप बरसने लगेगी।

भारतीय पुराणों में समुद्र - मंथन की कथा है। भले ही वह एक रूपक कथा है। किन्तु, अतीव बोधप्रद है। देवों ने समुद्र का मंथन किया, तो उसमें से श्री अर्थात् लक्ष्मी का आविर्भाव हुआ, अमृत आदि अनेक अद्भुत वस्तुओं के साथ ? यह कथा क्या सूचना देती है ? यही सूचना देती है कि यूंही अल्प नाम मात्र के श्रम से भी कुछ नहीं होने वाला है। समुद्र मंथन जैसा विराट् एवं अदम्य श्रम होना चाहिए। कितनी बार बीच में निराशा आए, हताशा आए, किन्तु तुम निराशा एवं हताशा से अनुत्साहित होकर श्रम छोड़कर कायर व्यक्ति की भाँति भागो नहीं। किन्तु, हिमाचल की तरह स्थिर - उन्नत मस्तक के साथ खड़े रहो। कुछ ही समय में तुम्हें स्थिति बदलती हुई दिखाई देगी। अंधेरे में उजाला चमकता दिखाई देगा। पतझड़ में वसन्त विकसित होता हुआ मालुम पड़ेगा। अपेक्षा है, समुद्र मंथन जैसी रूपक - कथा के आधार पर दीर्घकाल तक के अदम्य साहस एवं श्रम की।

भारतीय-संस्कृति का आदर्श है, बिना श्रम किए, बिना किसी उदात्त चरित्र को अपनाये यों ही इधर - उधर कुछ खा लेना पाप है। श्रम के साथ—भले ही वह श्रम किसी भी रूप में हो, किन्तु

अच्छा हो, श्रेयस्कर हो, मंगलमय हो, यदि कुछ खाया-पिया जाता है, तो वह साधारण - से - साधारण मानव के अन्तर् में देवत्व की ज्योति जगाता है। मनुष्य के गिरते - पड़ते, सड़ते, गलते अन्तर्मन को जीवन देने वाला, उसे ऊँचाइयों पर पहुँचाने वाला, एक मात्र निष्ठा के साथ किया जाने वाला उसका श्रम ही है। श्रम में से ही गुप्त सोने के खजाने बाहर में प्रकट होते हैं।

गुजरात के महान् सम्राट् श्री कुमारपाल राजा होने से पूर्व एक दिन दीन-हीन स्थिति में से ही गुजर रहे थे। विरोधी भयंकर शत्रु मृत्यु की तरह उसके पीछे लगे हुए थे। और वह कुमारपाल अपने प्राण बचाते हुए जंगलों में मारा-मारा फिर रहा था।

एक दिन बहुत भूख लगी हुई थी। सुबह से खाने को एक दाना भी नहीं मिला था। चलते हुए एक खेत के पास से गुजर रहे थे। किसान अपने खेत में हल जोत रहा था। विश्राम के हेतु उसी खेत में एक वृक्ष के नीचे कुमारपाल भी बैठ गया। इतने में किसान की पत्नी भोजन लेकर आई। भारतीय - संस्कृति की प्राणवत्ता से सुप्राणित दरिद्र किसान भी भला अपने खेत पर आए हुए अतिथि को भोजन दिए बिना अकेले कैसे खा सकता था ?

किसान कुमारपाल के पास जाता है और भोजन के लिए निमन्त्रण देता है। किन्तु, कुमारपाल इनकार करता है। किसान के अत्यन्त आग्रह पर कुमारपाल भोजन नहीं लेने का स्पष्टीकरण करता है, कि मैंने तुम्हारे लिए कोई भी काम नहीं किया है। ऐसी स्थिति में मैं कुछ भी मूल्य दिए बिना यूँही निठल्लेपन से तुम्हारा भोजन कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ?

लम्बी बात न कर, अन्त में फैसला हुआ, खेत में हल जोतने का। भयंकर भूख लगी हुई थी। रोटी का एक टुकड़ा भी उस समय उसके लिए अमृत के समान था, जीवन रक्षक था। फिर भी युवक कुमारपाल कुछ देर तक किसान के खेत में हल जोतता रहा। और इतिहासकार कहता है, कि हल जोतते हुए खेत में से स्वर्ण-मुद्राओं से भरा हुआ एक ताम्र - कलश निकला और वह किसान को अर्पण कर दिया। यह है, श्रम में से स्वर्ण-निधि के उद्भूत होने की अनेक कथाओं में से एक कथा।

सशक्त श्रम में ही श्री का निवास है :

६७

भारतीय-संस्कृति का दर्शन कर्म का दर्शन है, श्रम का दर्शन है। श्रम के द्वारा ही 'श्री' की उपासना की वह सूचना देता है। कुछ भी प्राप्त करो, किन्तु उस प्राप्ति के मूल में श्रम है, उसे एक क्षण भी न भूलो। तुम्हें जो कुछ भी मिलेगा, तुम्हारे अपने श्रम से मिलेगा। और, जो श्रम से मिलेगा, वह अमृत होगा। श्रमहीन व्यक्ति को आलस्य से परिलिप्त जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह विष है, जीवन-घातक है।

आजकल राष्ट्र की स्थिति को देखता है, तो सहसा हतप्रभ हो जाता है। भारतीय-संस्कृति, धर्म और दर्शन की उदात्त विचार-धाराओं के उत्तराधिकारी भारत के लोगों को ही क्या गया है? आज इच्छाएँ तो लंका के रावणों की तरह बेलगाम हो रही हैं। बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं, जो वर्षाकालीन तूफानी नदियों की तरह दिशाहीन बह रही हैं और हा - हा कार मचा रही हैं। कितनी विचित्र मनःस्थिति है कि लोग अभीष्ट 'श्री' प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु श्रम से जी चुराते हैं। आए दिन जरा - जरा - सी बातों पर हड़तालें होती हैं। कल - कारखाने और बाजार बलात् बन्द करा दिए जाते हैं। और इसी बीच उन उत्तेजित हुए अथवा उत्तेजित किए गए लोगों द्वारा सरकारी एवं जनता की संपत्ति की तोड़-फोड़ होने लगती है और यहाँ तक की आगजनी की दुर्घटनाएँ भी होती हैं और चुनाव के चक्र में "चक्रं ध्रमति मस्तके" कथा वाले अनेक दल उक्त अर्थहीन हड़तालों को बढ़ावा देनेवाले नेताओं को पता नहीं कि उक्त हड़तालों से राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ती है या क्षीण होती है? एक दिन के हड़ताल में देश की श्री वृद्धि में से अरबों-खरबों तक की सम्पत्ति रूप श्री काल के गाल में में स्वाह हो जाती है और देश श्री - सम्पन्न होने की जगह श्री - हीन हो जाता है। समृद्धि सम्पन्न होने की अपेक्षा और अधिक दीन - हीन हो जाता है। जितनी अधिक सम्पत्ति का क्षय होगा, उतनी ही महँगाई बढ़ेगी। परंतु, देश की अज्ञानता ने एक ही मंत्र सीख लिया है कि महँगाई कम करने के लिए हड़ताल करो, काम न करो और निठल्ले बैठ कर ही खाओ-पीओ, मौज उड़ाओ। यह कैसा विचित्र चिन्तन है। प्यास लगी है, नये सिरे से श्रम करके दूर से पानी को क्या लाना है, पास में रखे हुए शीतल जल से भरे हुए घट को ही

फोड़ देना है। कितना मूर्खतापूर्ण है प्यास बुझाने का प्रयास। यही स्थिति आजकल राष्ट्र में हो रही है।

राष्ट्र की जनता को पूर्ण शक्ति के साथ अपने-अपने क्षेत्र में अधिकाधिक उत्पादन के हेतु जी-जान से जुट जाना चाहिए। बहुत पुराना नहीं, नया इतिहास ही आपके समक्ष साक्षी के रूप में उपस्थित है। द्वितीय विश्व युद्ध में पूरी तरह से ध्वस्त हुआ जापान जैसा छोटा-सा राष्ट्र अपने सामूहिक श्रम शक्ति के द्वारा आज कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया है। आज अमेरिका जैसे बड़े-बड़े पूंजीपति राष्ट्र भी जापान से शिक्षा ग्रहण करने के लिए हाथ पसार रहे हैं। और, एक ओर हम हैं कि आजाद हुए इतने लम्बे काल में भी भूख-भूख चिल्ला रहे हैं। दरिद्रता के नारे लगा रहे हैं। और जो कुछ उन्नति के रूप में अच्छा हुआ है, और अच्छा हो रहा है, उसे भी नकारते जा रहे हैं। स्वयं कुछ करते नहीं हैं और जो कुछ कर रहे हैं, उनकी टांग भी पीछे की ओर घसीट रहे हैं। अर्थात् “न कुछ हम करें और न कुछ तुम करो।” बस एकमात्र नारेबाजी करो और देश को समृद्ध बनाओ। पता नहीं ये लोग कैसे दिवा-स्वप्न देख रहे हैं, जो प्रायः निरर्थक ही होते हैं।

अपेक्षा है, अपने जीवन के कण-कण को श्रम की शक्ति से ज्योतिर्मय करने की। अपेक्षा है निर्माण से देश को आगे बढ़ाने की। अब तक के इतिहास में जो कुछ भी हुआ है, नित नए निर्माण से ही हुआ है। और, निर्माण होता है निष्ठा के साथ किए जाने वाले श्रम के द्वारा। इसलिए मानव जाति की अभीष्ट देवी ‘श्री’ के दर्शन होते हैं—श्रम के पथ की लम्बी यात्रा से।

अगस्त १९८८



सशक्त श्रम में श्री का निवास है।

६६

विजय पर्व

मानव - जीवन के लक्ष्य, यों तो भारतीय - वाङ्मय में अनेक रूपों में अभिवर्णित हैं। कहीं पर देह का सुन्दर रूप है, तो कहीं पर शत्रुओं को पराजित करने वाला सशक्त देह का विक्रम - बल। कहीं पर धन-संपत्ति एवं ऐश्वर्य के अम्बार हैं, तो कहीं पर उच्च पद - प्रतिष्ठा के उच्चतम सिंहासन हैं। कहीं पर पुत्र - पौत्रादि विशाल परिवार है, तो कहीं पर मित्र - वर्ग है। कहीं पर यश-कीर्ति है, जय - जयकार है, तो कहीं पर चतुरता, बुद्धि और कुछ-न-कुछ नवीन रचना करने की कला - कौशल का विकल्प है। कोई सीमा है—इन बाह्य कार्य - कलापों की, वर्णनों की ? अतः गणना का क्रम ही व्यर्थ है।

आज सबसे महान् प्रश्न है, मानव के वास्तविक यथार्थ लक्ष्य का ? वह लक्ष्य क्या है ? यों तो विजय के भी बाहर में अनेक रूप हैं ? किन्तु, वे सब तुच्छ हैं, क्षुद्र हैं, जन-मंगल की दिशा में उनका कौड़ीभर का भी मूल्य नहीं है। अतः यथार्थ विजय है—“आत्म-विजय।” आत्म - विजय अर्थात् अन्दर के विकारों पर विजय। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकार दो - चार नहीं, असंख्य हैं। अनन्त हैं। और, वे विकार कोई आज के नहीं हैं। क्या आप जानते हैं, ये हैं कौन ? ये हैं, आपके मानव - जाति के, कुछ आगे बढ़ कर कहें तो प्राणि - मात्र के शत्रु। ये वे छली शत्रु हैं, जो मित्र बन कर घर के अन्दर ही विराजमान हैं और खूब जी - भर कर मान-प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इससे बढ़ कर दूसरी और कौन-सी अनर्थकारी मूढ़ता होगी। शत्रु को शत्रु समझ लेना भी सही समझ है, बुद्धि-मत्ता है। यह समझ कभी-न-कभी अन्दर के शत्रुओं को पराजित करने में सफल होगी ही।

तथाकथित बाह्य शत्रुओं पर समयोचित एक-से-एक भयंकर संहारक शस्त्रों एवं प्रबल सैन्य - शक्ति के द्वारा विजय पाई जा सकती है। अनेक सम्राटों का इतिहास साक्षी है, जिन्होंने महा-भारत जैसे रक्त के प्रनदों को अपनी भौतिक - शक्ति से बहाया और उन्मत्त होकर विजय के शंख बजाए हैं। किन्तु, वे प्रबल शक्ति - सम्पन्न समझे जानेवाले योद्धा भी अन्दर के शत्रुओं से पद-पद पर पराजित होते रहे हैं, ठुकराए गए हैं, कुचले गए हैं।

वस्तुतः बाह्य विजय, विजय नहीं है। सही विजय है, अन्दर के विकारों को पराजित करने की। यही महाति महान् विजय है। उक्त विजय पाने वाले विश्व में विरले ही वीर, महावीर होते हैं। इसी सन्दर्भ में यथार्थ विकार - विजेता महाश्रमण भगवान् महा-वीर ने कहा था—“अपने को जीतो अर्थात् अपने मन के विकारों को जीतो। उनको जीतना ही मुश्किल है। उक्त दुर्गम शत्रुओं को जिसने जीत लिया, वही सच्चा विजेता है, सर्व श्रेष्ठ विजेता है, जिसका बाहर में कोई शत्रु है ही नहीं।” यथार्थ में वह परम सुखी एवं आनन्दमय है। आगम - वाङ्मय उत्तराध्ययन की यह दिव्य ध्वनि है—

“अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुदमो।

अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥”

उत्तराध्ययन सूत्र में ही आध्यात्मिक दृष्टि से ही एक और महान् विकार - विजेता नमि राजर्षि का वर्णन है। उस महान् तपोधन राजर्षि ने स्वर्ग के इन्द्र से कहा था, साधना - पथ पर कदम रखते ही—“जो वीर युद्ध - भूमि में हजारों - हजार दुर्जय शत्रुओं को जीत सकता है, वह बाह्य विजय तो साधारण विजय है। यथार्थ में वह विजय है ही नहीं। वास्तव में परम विजय है—स्वयं को स्वयं के द्वारा जीत लेना, अपनी शुद्ध चेतना - शक्ति के द्वारा अशुद्ध एवं विकृत चेतना - शक्ति पर विजय पा लेना। एक वार विजय प्राप्त कर छोड़ देना विजय नहीं है। यह तो युद्ध नीति की एक भयंकर भूल है और इस भूल का दुष्फल आत्मा ने अनेक वार भोगा है। वास्तविक विजय का अर्थ है—शत्रु का मूलोच्छेद कर देना। अतः यही यथार्थ एवं स्थायी विजय है—

विजय पर्व :

१०१

“जो सहस्रं सहस्राणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एमं जिणेज्ज अय्याणं, एस से परमो जओ ॥”

राजर्षि आगे कहते हैं, युद्ध करना ही है, तो स्वयं अपने से करो अर्थात् अपने मन के विकारों से महासमर करो । बाह्य युद्धों से, अपना और दूसरों का रक्त बहाने से क्या होना-जाना है ? यह बाहर की विजय, विजय नहीं, वस्तुतः पराजय ही है ।

भारतीय - वाङ्मय में प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित उदाहरणों की कोई कमी नहीं है । एक - से - एक बढ़ - चढ़ कर उदाहरण हैं । किन्तु अन्ततः उन सब का मूल स्वर एक ही है—आत्म - विजय । इसीको महान् सम्राट् अशोक धर्म-विजय कहता है । धर्म विजय के बिना मनुष्य बाहर का महान् विजेता हो कर भी वस्तुतः एक क्षुद्र दास ही है । विकारों का दास—गुलाम दुनियादारी के दासों से भी, गुलामों से भी नीचाति-नीच है ।

अतः मैंने जो प्रारम्भ में कहा है—मानव जीवन का लक्ष्य क्या है ? उत्तर दिया गया—विजय । और, वह विजय बाहर की नहीं, विकार - विजय है, धर्म - विजय है, आत्म - विजय है । यह विजेता साधारण विजेता नहीं है, अपितु विश्व-विजेता है, त्रिलोक-विजेता है । इस आत्म - विजेता की देश - काल आदि की कोई क्षुद्र सीमा नहीं है, यह अनन्त है । अतः कहा है मनीषियों ने—

“मनो विजेता, जगतो विजेता”

भारतीय - जीवन में यों तो विजय के रूप में अनेक विजय-पर्व हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में दो विजय - पर्व मुख्य हैं—एक विजय पर्व है, पर्युषण और दूसरा है दशहरा अर्थात् रावण के अन्याय - अत्याचार पर राम के न्याय - सदाचार की विजय ।

पर्युषण आध्यात्मिक विजय का पर्व है । इसे मैत्री - पर्व भी कहते हैं । आप जानते हैं कि अन्तर्मन में मैत्री - भाव की ज्योति तभी जगती है, जब क्रोधादि विकारों पर यथार्थ विजय प्राप्त कर ली जाती है । प्रायः देखा जाता है, कि इधर क्रोधादि विकार भी मन में पनप रहे हैं और उधर मैत्री - पर्व पर्युषण भी मना रहे हैं । यह तो एक प्रकार का अपमानजनक उपहास है । यथार्थ में

अपने अन्तस्थ शत्रु काम, क्रोध, अहंकार, लोभ आदि पर ईमान-दारी के साथ विजय प्राप्त करना ही पर्युषण पर्व की आराधना है। अतः यह महाति-महान् अनुपमेय आध्यात्मिक विजय पर्व है। बाहर में मैत्री के नारे लगाने मात्र से कुछ नहीं होना है। और तो और, एक ही धर्म - परम्परा की विभिन्न धाराएँ पारस्परिक सामान्य मन - मुटावों को दूर करके एक - धारा के रूप में नहीं मिल पातीं। अतः हम देखते हैं कि आए दिन उपहासास्पद तुच्छ प्रश्नों पर भीषण संघर्ष होते हैं, दण्डा - दण्डी होती है, कभी-कभी शिरोरक्त बहसै हैं और बड़ी-से-बड़ी अदालतों तक गुहार मचायी जाती है। यह कैसी मैत्री? और, यह कैसी मैत्री के महापर्व पर्युषण की आराधना?

सच्ची मैत्री तभी हो सकती है, जब हम अपने स्वार्थों, अहंकार, यश एवं पद - प्रतिष्ठा के प्रलोभनों को अपने पर हावी नहीं होने देंगे, प्रत्युत उन पर विजय प्राप्त करेंगे। जब तक विकारों से उत्पन्न होने वाले जीवन - द्वन्द्व समाप्त नहीं होंगे, तब तक न तो सही अर्थ में मैत्री होगी, न पर्युषण पर्व की आराधना होगी, न धर्म - विजय होगी और न आत्म - विजय।

खेद है, इस महापर्व के पावन प्रसंग पर यह आत्म - विजय एवं मैत्री - भाव की निर्मल धारा हम न साधु - वर्ग में देख पा रहे हैं और न गृहस्थ - वर्ग में। यदि जीवन में मैत्री की धारा प्रवहमान होती, तो जिन - धर्म की गूँज विश्व में सब ओर अनु-गुंजित होती और जन - जन का मन अद्भुत स्वर्गीय आनन्द प्राप्त कर हर्षोल्लास का बन्धुत्व रूप जीवन बीताता। सही अर्थ में देखा जाए, तो मुक्ति भी यही है—“विकार मुक्ति किल मुक्तिरेव।”

मुक्ति कोई स्थान विशेष मात्र तो है नहीं। विकार - मुक्त आत्मा की शुद्ध - स्वरूप में स्थिति ही मुक्ति है। अतः महान् आचार्य पूज्यपाद ने ठीक ही कहा है—“सिद्धि स्वात्मोपलब्धिः” शुद्ध-बिशुद्ध स्व-स्वरूप की समुपलब्धि ही यथार्थ सिद्धि है, वास्तविक मुक्ति है।

अक्टूबर १९८८



विजय पर्व :

१०३

भारतीय-संस्कृति में प्रशास्ता की : कर्तव्य भूमिका

अखिल विश्व की मानव - जाति में शास्ता-शासक एवं नेता का स्थान सर्वोपरि रहा है। शास्ता अपने द्वारा शासित एवं अनु-जीवि जनता का संरक्षक एवं यथाप्रसंग योग्य पथ-प्रदर्शक होता है।

शास्ता यदि योग्य है, सहृदय, उदारमना, स्वार्थ-मुक्त मेधावी एवं सहजभाव से प्रजावत्सल है, तो उसको प्रजा अर्थात् अनुजीवी जन सुखी, सद्गुणी, सदाचारी एवं परस्पर एक - दूसरे के सहयोगी एवं स्नेही होते हैं। इसके विपरीत यदि शास्ता स्वार्थ - परायण, भोगासक्त, विवेक शून्य एवं समयोचित कर्तव्य की दृष्टि से शून्य होता है, तो उसके अनुचर वर्ग भी तदनु रूप ही हो जाते हैं, और वे परस्पर कलह - विग्रह आदि के व्यर्थ के संघर्षों में उलझकर अपना सर्वनाश कर डालते हैं।

यह शास्ता अनेक रूपों में रूपायित है। यह परिवार का, घर का मुखिया होता है, समाज का पंच एवं चौधरी होता है, धर्म-परम्परा का गुरु होता है, एवं राष्ट्र का अभिभावक, प्राचीन शब्दों में राजा और आज के शब्दों में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री एवं मंत्री आदि नामों से अभिहित होता है। केवल कर्म - क्षेत्र का अन्तर होता है इनमें, किन्तु मूल में शाशकत्व की दृष्टि से एकरूपता ही होती है। प्रस्तुत में हम राष्ट्रनेता एवं राजा के शाशकत्व का प्रसंग उपस्थित कर रहे हैं। इसमें अन्य नेताओं का भी यथा-योग्य स्वरूप समाधान पा लेता है—अपेक्षा है। सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण, परीक्षण एवं आत्मालोचन की।

जैन - परम्परा के पौराणिक - काल के आदि पुरुष भगवान् ऋषभदेव ने परिवार - नीति एवं समाज - नीति के साथ सर्वप्रथम

राजनीति की भी स्थापना की थी। परिवार, समाज एवं राजनीति की स्थापना में अपने जीवन का अधिकांश भाग प्रयुक्त करने के अनन्तर ही धर्मनीति की स्थापना की है। स्पष्ट है—विशुद्ध राजनीति की स्थिति के अभाव में धर्म - साधना भी पंगु हो जाती है। इसीलिए स्थानांग सूत्र में राजा को भी धर्म - साधना की सुरक्षा के रूप में एक अंग बताया गया है। इसी प्रसंग में नीति-शास्त्र के महान् उद्गाता जैनाचार्य सोमदेव सूरि ने अपने सुविख्यात् ग्रंथ “नीति-वाक्यामृत १७, ४, ५” में कहा है—“प्रजा एक वृक्ष है, शास्ता राजा उसका मूल है। मूल रहित वृक्ष को सिंचन एवं पोषण करने का क्या अर्थ है ? आगे चलकर आचार्य ने प्रशासन की दण्डनीति का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। वे कहते हैं, कि विवेकशाल शासक का अनुशासनात्मक दण्ड प्रजा के जीवन को विकारमुक्त स्वस्थ बनाने के लिए है, जैसे कि वैद्य चिकित्सा के द्वारा रोगी को स्वस्थ करता है। शासन प्रजा के पालन के लिए होता है, वैयक्तिक धन - संग्रह के लिए नहीं। देखिए उक्तभाव को उन्हीं के शब्दों में—

“चिकित्सागम इव दोषविशुद्धि हेतुर्दण्डम् ।— ६, १.

“प्रजापालनाय राज्ञा दण्ड - प्रणीयते न धनार्थम्” ।—६, ३.

आचार्य सोमदेव सूरि का राजधर्म का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। उसके लिए एक अलग से निबन्ध की अपेक्षा है। स्वास्थ्य साथ दे सका और अवकाश मिला, तो हम फिर इसकी चर्चा करेंगे। प्रस्तुत में हम भारतीय - संस्कृत - वाङ्मय के महान् ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण के आयोध्या काण्ड १०० वें सर्ग में से राजनीति का कुछ अंश उद्धृत कर रहे हैं। यह महत्त्वपूर्ण अंश मर्यादा पुरुषोत्तम राम के द्वारा वनवास में राजकुमार भरत से पूछे गए एतत्सम्बन्धी प्रश्नों में से उद्भासित होता है।

श्रीराम को वनवास हो गया है। वे चित्रकूट में विश्राम ले रहे हैं। भरत उन्हें वापिस बुलाने के लिए श्री-चरणों में पहुँचता है। इस समय श्रीराम भरत से कुछ प्रश्न करते हैं, जो योग्य शासक के कर्तव्य-कर्म को स्पष्टतः प्रतिष्ठानित करते हैं—

भारतीय-संस्कृति में प्रशास्ता की : कर्तव्य भूमिका :

१०५

कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।

धनसूयुरनुद्वष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः^१ ॥ १००, ११.

—जो उत्तम कुल में उत्पन्न, विनय सम्पन्न, बहुश्रुत किसी के दोष न देखनेवाला, तथा शास्त्रोक्त धर्मों पर निरन्तर दृष्टि रखनेवाला है, उक्त पुरोहित विद्वान का तुमने पूर्णतः सत्कार - सम्मान किया है ।

कच्चिद् देवान् पितृन् भृत्यान् गुरुन् पितृ समानपि ।

वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥१३॥

—“तात ! क्या तुम देवतात्माओं, पितरों, भृत्यों, गुरुजनों, पिता के सामान आदरणीय वृद्धों, वैद्यों और विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मणों, विद्वानों का सम्मान करते हो ?

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ।

कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥१५॥

—तात ! क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जीतेन्द्रिय, कुलीन, तथा बाहरी चेष्टाओं—इशारों से ही मन की बात समझ लेनेवाले योग्य व्यक्तियों को ही मन्त्री बनाया है ?

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कश्चित् कालेऽवबुध्यसे ।

कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्वर्थं नैपुणम् ॥१७॥

—भरत ! तुम असमय में ही निद्रा के वशीभूत तो नहीं होते ? समय पर जाग जाते हो न ? रात के पिछले प्रहर में अभीष्ट प्रयोजन के सिद्धि के उपाय पर विचार करते हो न ?

कच्चिदर्थं विनिश्चित्य, लघुमूलं महोदयम् ।

क्षिप्रमारंभसे कर्म न, दीर्घयसि राघव ॥१९॥

—रघुनन्दन ! जिस कार्य के निष्पादन के साधन बहुत छोटे हैं, किन्तु फल बहुत बड़ा हो, ऐसे कार्य का निश्चय करने के बाद, तुम उसे शीघ्र प्रारम्भ कर देते हो ना ? उसमें विलम्ब तो नहीं करते ?

^१जो परिवार एवं समाज सम्बन्धी विधि - विधानों के कार्यक्रम को सम्पादित करने के लिए अग्रगण्य रहकर हित साधन करता है, वह पुरोहित है ।

कच्चिन्नु सुकृतान्येव, कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि, न कर्तव्यानि पाथिवाः ॥२०॥

—तुम्हारे सब कार्य पूर्ण हो जाने पर अथवा पूरे होने के समीप पहुँचने पर ही दूसरे प्रतिस्पर्धी राजाओं को ज्ञात होते हैं न ? कहीं ऐसा तो नहीं होता, कि तुम्हारे भावी कार्यक्रमों को वे पहले से ही जान लेते हों ?

कच्चित् सहस्रं मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निः श्रेयसं महत् ॥२२॥

—क्या तुम सहस्रों मूर्खों के बदले एक पण्डित को ही पास रखने की इच्छा रखते हो ? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थ संकट के समय महान् कल्याण कर सकते हैं ।

कच्चिन्मुख्यः महत्स्वेव, मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु, भृत्यास्ते तात योजितः ॥२५॥

—तात ! तुमने प्रधान व्यक्तियों को प्रधान, मध्यम श्रेणी के मनुष्यों को मध्यम, और छोटी श्रेणी के लोगों को छोटे ही कामों में नियुक्त किया है न ?

कच्चिन्नोग्रणे दण्डेन, भृशमुद्वेजिताः प्रजा ।
राष्ट्रे तवावजानन्ति, मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥२७॥

—कैकयी कुमार ! तुम्हारे राज्य की प्रजा कठोर दण्ड से उद्विग्न होकर तुम्हारे मन्त्रियों का तिरस्कार तो नहीं करती ?

कच्चिन्न लोकायतिकान्, ब्राह्मणांस्तात सेवसे ।
अनथंकुशला ह्येते बाला, पण्डितमानिनः ॥३०॥

—तात ! तुम कभी नास्तिक विद्वानों का संग तो नहीं करते हो ? क्योंकि वे बुद्धि को परमार्थ की ओर से विचलित करने में कुशल होते हैं तथा वास्तव में अज्ञानी होते हुए भी अपने को बहुत बड़ा पण्डित मानते हैं ।

प्रासादं विविधाकारैर्वृत्तां, वैद्यजनाकुलाम् ।
कच्चित् समुदितां, स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे ॥४२॥

भारतीय-संस्कृति में प्रशास्ता की : कर्तव्य भूमिका :

१०७

—नाना प्रकार के राजभवन और मन्दिर उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह नगरी बहुसंख्यक विद्वानों से भरी है। ऐसी अभ्युदयशील और समृद्धिशालिनी नगरी अयोध्या की तुम भली-भांति रक्षा तो करते हो न ?

देवस्थानैः प्रपाभिश्च, तटाकैश्चोपशोभित ॥४३॥

प्रहृष्टनर - नारीकः, समाजोत्सव शोभितः ।

सुकृष्ट सीमापशुमान्, हिसाभिरभिवर्जितः ॥४४॥

अदेवमातृको रम्यः, श्वापदेः परिवर्जितः ।

परित्यक्ते भयैः सर्वैः, खनिभिश्चोपशोभितः ॥४५॥

दिवर्जितो नरैः पापमम, पूर्वैः सुरक्षितः ।

कत्वज्जनपदः स्फीतः, सुखं वसति राघव ॥४६॥

—अनेकानेक देवस्थान, प्रपा, और तालाब जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जहाँ के स्त्री - पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं, जो सामाजिक उत्सवों के कारण सदा शोभा - सम्पन्न दिखाई देते हैं, जहाँ खेत-जोतने में समर्थ पशुओं की अधिकता है, जहाँ किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती है, जहाँ खेती के लिए वर्षा के जल पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है (नदियों के जल से सिंचाई हो जाती है) जो बहुत सुन्दर है, और हिंसक पशुओं से रहित है, जहाँ किसी तरह का भय नहीं है, नाना प्रकार की खानें जिसकी शोभा को बढ़ाती हैं, जहाँ पापी एवं दुष्ट स्वभाव के मनुष्यों का सर्वथा अभाव है तथा हमारे पूर्वजों ने जिसकी भली-भांति रक्षा की है, वह अपना कौसल देश धन - धान्य से सम्पन्न और सुख पूर्वक बसा हुआ है न ?

कच्चित् ते दयिताः सर्वे, कृषिगोरक्ष जीविनः ।

वार्तायां संभ्रितस्तात, लोकोऽयं सुखमेधते ॥४७॥

—तात ! कृषि और गोरक्षा से आजीविका चलाने वाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीतिपात्र हैं न ? क्योंकि उनके कृषि और व्यापार आदि में संलग्न रहने पर ही राष्ट्र सुखी एवं उन्नतिशील होता है ।

तेषां गुप्तिपरिहारैः कच्चित्, ते भरणं कृतम् ।

रक्षया हि राज्ञा धर्मेण, सर्वे विषय वासिनः ॥४८॥

— उन वैश्यों को इष्ट की प्राप्ति कराकर और उनके अनिष्ट का निवारण करके, तुम उन सब लोगों का भरण - पोषण तो करते हो न ? क्योंकि राजा को अपने राज्य में निवास करने वाले सब लोगों का धर्मानुसार पालन करना चाहिए ।

आयस्ते विपुलाः कच्चित्, कच्चिदल्पतरो व्ययः ।

अपात्रेषु न ते कच्चित्, कोषो गच्छति राघव ॥५४॥

—रघु-नन्दन ! क्या तुम्हारी आय अधिक और व्यय बहुत कम है ? तुम्हारे खजाने का धन अपात्रों अर्थात् अयोग्य जनों के हाथ में तो नहीं चला जाता है ?

कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा, क्षारितश्चापकर्मणा ।

अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न, लोभाद् बध्यते शुचिः ॥५६॥

—कभी ऐसा तो नहीं होता, कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ, निर्दोष और शुद्धात्मा पुरुष पर भी दोष लगा दे तथा न्याय-शास्त्र-ज्ञान में कुशल विद्वानों द्वारा उसके विषय में विचार कराए बिना ही लोभवश उसे आर्थिक दण्ड दे दिया जाता हो ?

व्यसने कच्चिदाद्यस्थ, दुर्बलस्य च राघव ।

अर्थ विरागाः पश्यन्ति, तवामात्या बहुश्रुताः ॥५७॥

—बघुकुल भूषण ! यदि धनी और गरीब में कोई विवाद छिड़ा हो, और वह राज्य के न्यायालय में निर्णय के लिए आया हो, तो तुम्हारे बहुश्रुत (बहुविज्ञ) मन्त्री धन आदि के लोभ से मुक्त रहकर उस मामले पर न्यायसंगत यथोचित विचार करते हैं न ?

यानि मिथ्याभिश्चस्तानां, पतन्त्यश्रूणि राघवः ।

तानि पुत्रपशून् धनन्ति, प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥५९॥

—रघु-नन्दन ! निरपराध होने पर भी जिन्हें मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है, उन मनुष्यों की आँखों से जो आँसू गिरते हैं, वे पक्षपात पूर्ण शासन करने वाले राजा के पुत्र और पशुओं का नाश कर डालते हैं ।

कच्चिद् ब्रह्मांश्च बालांश्च, वैद्यान् मुख्यांश्च राघव ।

दानेन मनसा वाचा, त्रिभिरेतैर्बुभूष से ॥६०॥

भारतीय-संस्कृति में प्रशास्ता की : कर्तव्य भूमिका :

१०६

—राघव ! क्या तुम वृद्ध पुरुषों, बालकों और प्रधान वैद्यों का आन्तरिक अनुराग, मधुर वचन, और धन - दान—इन तीनों के द्वारा सम्मान करते हो न ?

कच्चिद् गुरुंश्च वृद्धांश्च, तापसान् देवातातिथीन् ।

चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥६१॥

—गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, देवतात्माओं, अतिथियों, चैत्यों और समस्त शास्त्र वेत्ता ब्राह्मणों को नमस्कार करते हो न ?

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं, धर्मेण वा पुनः ।

उभौ वा प्रीतिलोभेन, कामेन न विबाधसे ॥६२॥

—तुम अर्थ के द्वारा धर्म को अथवा धर्म के द्वारा अर्थ को हानि तो नहीं पहुँचाते हो ? अथवा आसक्ति और लोभरूप काम के द्वारा धर्म और अर्थ दोनों में बाधा तो नहीं आने देते हो न ?

कच्चिदर्थं च कामं च, धर्मं च जयतां वरं ।

विभज्य काले कालज्ञ, सर्वान् वरद सेवसे ॥६३॥

—विजय वीरों में श्रेष्ठ, समयोचित कर्तव्य के ज्ञाता तथा दूसरों को वर देने में समर्थ भरत ! क्या तुम समय का विभाग करके धर्म, अर्थ और काम का योग्य समय में सेवन करते हो न ?

कच्चित् ते सफलं श्रुतम् ॥७२॥

—क्या तुम्हारा शास्त्र ज्ञान भी विनय आदि गुणों का उत्पादक होकर सफल हुआ है न ?

कच्चित् स्वादुक्तं, भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।

कच्चिदाशं समानेभ्यो, मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥७५॥

—रघु-नन्दन ! तुम स्वादिष्ट पकवान अकेले ही तो नहीं खा जाते हो ? उसकी आशा रखने वाले मित्रों को देते हो न ?

महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण के उक्त वर्णन के अनुरूप ही महर्षि व्यास कृत महाभारत के सभापर्व अध्याय में भी प्रायः यही वर्णन उपलब्ध है ।

द्युत्क्रीड़ा के पूर्व ही दुर्योधन के दुरभिसंधि के कारण श्री युधिष्ठिर आदि पाण्डु पुत्रों ने अपनी परम्परागत राजधानी हस्तिनापुर से निष्कासित होकर एक वन बहुल प्रदेश में इन्द्रप्रस्थ नाम

से विराट् नगर का निर्माण किया एवं विशाल राज्य की स्थापना की। इस समय देवर्षि नारद राजा युधिष्ठिर के पास आते हैं और प्रशासन के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछते हैं। प्रश्नों की प्रक्रिया अधिकांशतः रामारयण के अनुसार हुई है। तथापि कुछ प्रेरणाप्रद अंश हम यहाँ उद्धृत करने का लोभ - संवरण नहीं कर पाते।

महाभारत, लोकसभाख्यान पर्व अध्याय, ५

कच्चिदर्थश्च कल्पन्ते, धर्मं च रमते मनः।

सुखानि चानुभूयन्ते, मनश्च न विहन्यते ॥१७॥

—राजन् ! तुम्हारा धन, आवश्यक कार्य एवं निर्वाह के लिए पूरा पड़ जाता है ? क्या धर्म में तुम्हारा मन प्रसन्नता पूर्वक लगता है ? क्या तुम्हें इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते हैं ? तुम्हारे मन को किसी प्रकार का आघात, विक्षेप तो नहीं पहुँचता है ?

कच्चिद् विद्याविनीतांश्च नराञ्जानविशारदान्।

यथार्हं गुणतश्चैव, दानेनाभ्युपपद्यसे ॥१४॥

—क्या तुम विद्या एवं विनयशील तथा ज्ञाननिपुण मनुष्यों को उनके गुणों के अनुसार यथायोग्य धन आदि देकर उनका सम्मान करते हो ?

कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थं मृत्युमीयुषाम्।

व्यसनं चाभ्युपेतानां विभार्धिं भरतर्षभ ॥१५॥

—भरत श्रेष्ठ ? जो लोग तुम्हारे हित के लिए सहर्ष मृत्यु का वरण कर लेते हैं तथा भारी संकट में भी पड़ने को प्रस्तुत हो जाते हैं, उनके स्त्री, पुत्र एवं अन्य पारिवारिक जनों की तुम रक्षा करते हो न ?

कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः, पृथिव्याः पृथिवीपते।

समश्चानभिषङ्क्यश्च, यथामाता तथापिता ॥१७॥

—पृथ्वीपते ! क्या तुम्हारे समग्र राज्यकीय भूमण्डल की प्रजा तुम्हें ही समदर्शी एवं माता - पिता के समान विश्वसनीय मानती है न ?

कच्चिज्जातीन् गुरुन् वृद्धान् वाणिजः शिल्पिनः श्रितान्।

अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनघान्येन दुर्गतान् ॥१८॥

भारतीय-संस्कृति में प्रशास्ता की : कर्तव्य भूमिका :

१११

—तुम अपने आश्रित कुटुम्ब के लोगों, गुरुजनों, बड़े - बूढ़ों व्यापारियों, शिल्पियों तथा दीन - दुखियों को धन - धान्य दे कर उन पर सदा अनुग्रह करते रहते हो न ?

कच्चिन्न लब्धाश्चौरा वा, वैरिणो वा विशाम्पते ।

अप्राप्तव्यवहारा वा, तव कर्मस्वनुष्ठिता ॥७६॥

—राजन् ! तुमने अपने महत्त्वपूर्ण पदों एवं कार्यों पर ऐसे लोगों को तो नियुक्त नहीं कर रखा है, जो छोभी, चोर, शत्रु, अव्यावहारिक तथा अनुभव शून्य हों ?

कच्चिच्छारीग्माबाधमीषधीर्नियमेन वा ।

मानसं बृद्धसेवाभिः, सदा पार्थापकर्षसि ॥६०॥

—कुन्तीकुमार ! क्या तुम औषधि - सेवन या पथ्य - भोजन आदि नियमों के पालन द्वारा अपने शारीरिक कष्ट को तथा वृद्ध पुरुषों की सेवारूप सत्संग द्वारा मानसिक संताप को, सदा दूर करते रहते हो न ?

कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघः ।

—निष्पाप नरेश ! तुम किसी के मन में शोक या क्रोध तो नहीं पैदा करते हो न ?

कच्चित् कृतं विजानीषे, कर्तारं च प्रशंससि ।

सतां मध्ये महाराज, सत्करोषि च पूजयन् ॥१२०॥

—महाराज ! क्या तुम्हें किसी के किए हुए उपकार का पता चलता है ? क्या तुम उस उपकारी की प्रशंसा करते हो और साधु पुरुषों से भरी हुई सभा के बीच उस उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसका आदर - सत्कार करते हो न ?

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पंगून् व्यंगान् बान्धवान् ।

पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रब्रजितानपि ॥१२५॥

—धर्मज्ञ ! क्या तुम अंधों, मूंगों, पंगुओं, अंगहीनों तथा बन्धु-बान्धवों से रहित अनाथों और संन्यासियों का भी पिता की भाँति पालन करते हो न ?

षडनर्था महाराज कच्चित् ते पृष्ठतः कृताः ।

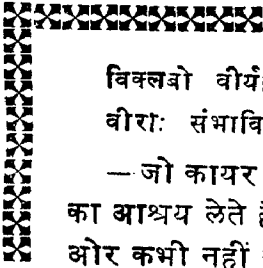
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधोऽमादंवं दीर्घसूत्रता ॥१२६॥

—महाराज ! क्या तुमने निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता—इन छह दोषों को त्याग दिया है ?

रामायण तथा महाभारत के उक्त संक्षिप्त वर्णनों पर से स्पष्ट हो जाता है कि प्रशास्ता की कार्य - पद्धति एवं जीवन - चर्या कैसी होनी चाहिए ? यदि संक्षेपतः उद्धृत उक्त वर्णनों में से अल्प - से - अल्प कुछ अंश भी आज के प्रशास्ता, भले ही वे किसी भी वर्ग - विशेष के हों, अपने जीवन में उतार सकें, तो वे स्वयं अपने जीवन तथा अपने आश्रित जन - जीवन के मंगल - कल्याण का पथ प्रशस्त कर सकते हैं । क्या ऐसा हो सकता है ? कुछ भी हो ऐसा होना ही चाहिए । इसके अभाव में प्रशास्ता का न अपना हित है और न लोक - हित है ।

“नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ।”

नवम्बर १९८८



विक्रमो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।

वीरोः संभावितात्मानो, न दैवं पयुषासते ॥२३.१७

—जो कायर और निर्बल हैं, वे ही दैव (भाग्य) का आश्रय लेते हैं । वीर और आत्म - निष्ठ दैव की ओर कभी नहीं देखते ।

दैवं पुरुषकारेण, यः समर्थं प्रवाधितुम् ।

न दैवेन विपन्नार्थः पुरुष सोऽवसीदति ॥२३.१८

—जो अपने पुरुषार्थ से दैव को प्रवाधित कर देने में समर्थ हैं, वे वीर मनुष्य कभी विपत्तियों से अवसन (दुःखित) नहीं होते हैं ।

सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्ये धर्मं सदाश्रितः ।

सत्यमूलानि सर्वाणि, सत्याज्ञासति परं पदम् ॥११०.१३

—संसार में सत्य ही ईश्वर है, सत्य में ही सदा धर्म रहता है, सत्य सब गुणों का मूल है, सत्य से बढ़कर और कुछ नहीं है ।

—बाल्मीकी रामायण, अयोध्या काण्ड

भारतीय संस्कृति में प्रशास्ता की : कर्तव्य भूमिका :

११३

संकल्पो हि गरीयान्

मानव की जीवन संस्कृति का सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं अत्यावश्यक अमृत स्रोत है, उसका अपना संकल्प ।

मनुष्य बाहर में, बाहर की विभूतियों में कितना भी महान् क्यों न हो, यदि उसमें संकल्प - शक्ति-अजेय एवं अपराजित है, तो वह यथार्थ में महान् है । अन्यथा वह केवल अन्यथा ही है । अर्थात् मानव देह के होते हुए भी अन्दर में वह मानव नहीं, कुछ और ही है ।

संकल्प - शक्ति की गरिमा ही मनुष्य को गरिमा देती है । लोक जीवन में उसे महत्त्वपूर्ण आदरास्पद स्थान प्रदान करती है । बाहर में भले ही कुछ न हो उसके पास ऐश्वर्य जैसा, किन्तु यदि उसमें संकल्प - शक्ति है, महान् होने की उद्दाम तरंग है, कुछ-न-कुछ यशस्वी कार्य करने की दृढ़ धारणा है, तो वह अवश्य ही एक-न-एक दिन महान् होकर ही रहता है ।

प्रत्येक मनुष्य में सत्य - तत्त्व का कोई - न - कोई बिन्दु तो अन्तर् में अवश्य निहित रहता है । अपेक्षा है, उसे विराट् बनाने की, प्रतिक्षण गर्जते विशाल सिन्धु का रूप देने की ।

अग्नि का एक क्षीणकाय नन्हा-सा कण, उसे योंही बाहर की आँखों से देखेंगे, तो वह कुछ भी नहीं है । पैर के जूते के तलवे से ही उसे क्षणभर में कुचला जा सकता है । क्या देर लगती है, उसे मृत्यु के मुख का ग्रास बनाने में । किन्तु, यदि उसे विराट् बना दिया जाए, तो पता लगेगा कि उसमें कितनी महत्ती शक्ति रही हुई है । वह शक्ति जगती है, तभी वह दाहक, पाचक आदि

क्रियाओं के करने में सक्षम होता है। तब वह लोक - मंगल के अनेक कार्य सम्पन्न भी करता है।

दीपक तेल और बाती लिए यों ही बैठा रहे, तो वैठा रहे। स्वयं भी अंधेरे में डूबा रहेगा, और आस - पास के प्रदेश को भी अंधेरे में डूबाये रखेगा। किन्तु, ज्यों ही वह किसी भी रूप में हो, अग्नि कणिका का स्पर्श पाता है, तो बम, स्पर्श मात्र से ही ज्योतिर्मय हो जाता है। अपने चारों ओर दिव्य प्रकाश फैला देता है। अंधकार को विनष्ट करने में उसे कुछ भी देर नहीं लगती।

मनुष्य के अन्तर् - हृदय में भी संकल्प की एक नन्ही - सी कणिका विद्यमान रहती है। कोई भी उससे रिक्त नहीं है और वह अग्नि कणिका और कोई नहीं, संकल्प - शक्ति है। यदि मनुष्य को ज्योतिर्मय बनना है, अंधकार से संघर्ष करना है, और उसे नष्ट करना है, तो उस अन्तर्-निहित सूक्ष्म-कार्य एवं सुप्त संकल्प शक्ति को जगाना होगा, विराट् बनाना होगा। वह जब भी जग जाएगी, साधारण - से - साधारण मनुष्य भी कुछ ही समय में असाधारण हो जाएगा। सर्वत्र निरादर की ठोकरें खानेवाला शीघ्र ही सब ओर समादर की जयध्वनियों से संपूजित हो जाएगा।

इतिहास के पृष्ठों पर हम एक ओर राम एवं कृष्ण को देखते हैं। वे मूलतः नर ही तो थे। किन्तु, अपने दृढ़ संकल्पों से नारायण बन गए, भगवान् के रूप में पूजास्पद हो गए। उनके जीवन में विघ्न कुछ कम नहीं आए। बाधाओं के दुर्गम पर्वत कितने अधिक आए। यदि कोई और होता, तो उसे वहीं बैठकर रोने के सिवा और कुछ काम नहीं होता। किन्तु, ये महापुरुष विघ्न-बाधाओं को हँसते हुए पार करते गए, और अपने लक्ष्य को अन्ततः पार करके ही रहे।

दूसरी ओर भारतीय इतिहास के दो महापुरुष और हैं। एक हैं—श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे हैं—तथागत बुद्ध। दोनों में ही भगवत्ता की शक्ति अन्तर्निहित थी। किन्तु, जब वे राजकुमार थे, तब क्या था। राजकुमार ही तो थे न? इन्हें तब भी आदर मिलता था। किन्तु, आप जानते हैं, वह आदर किस आधार पर मिलता था? वह मिलता था, भय एवं प्रलोभन के

संकल्पों हि मरीयान् :

११५

आवार पर। यह कोई आदर हुआ ? यदि यही आदर है तो फिर आदर शब्द का इससे बड़ा दूसरा अपमान और क्या होगा ? दोनों ही महापुरुषों को सही अर्थ में आदर मिलता है तब, जबकि वे साधारण वासना-ग्रस्त मानव की तुच्छाति-तुच्छ एवं क्षद्राति-क्षुद्र अधो भूमिका से ऊपर उठते हैं। और, अपने अन्तरतम की दिव्य भगवत् शक्ति को उग्र साधना के द्वारा जागृत करते हैं।

आप जानते हैं, इन वन्दनीय महापुरुषों को कितने भयंकर विघ्नों, बाधाओं एवं आपत्तियों का सामना करना पड़ा। उनके साधना के दिव्य संकल्पों को क्षत - विक्षत करने के लिए कितने प्राकृतिक और कितने आसुरिक प्रयत्न हुए हैं। किन्तु, वे शरीर से भले ही पहले जैसे ही अस्थि, मांस, मज्जा और रक्त के बने देहधारी मानव थे, किन्तु अन्तर् में वे संकल्प शक्ति के बल पर वञ्चायित थे। जैसे - जैसे उन पर प्रहार होते गए, वे अधिकाधिक एक महान् शक्तिशाली दिव्य भगवत् - शक्ति के रूप में ऊर्ध्वगामी होते गए। उनकी आध्यात्मिक चेतना पतन की ओर न जाकर और अधिक उन्नत होती गई। उनके भगवान् होने का यही एक दिव्य रूप है। अपने समय में तो उनकी पूजा सब ओर प्रसाद पाती ही रही, किन्तु सहस्राधिक वर्षों के बाद आज भी वे जन - जन के पूज्य हैं। वे कालजयी पुरुष हैं। पुरुष क्या, पुरुषोत्तम हैं। उनकी स्तुति में जो स्तोत्र रचे गए, उनमें अनेक सहस्रनाम स्तोत्र हैं। उन स्तोत्रों में उन्हें एक - से - एक महान् एवं उर्जस्वल नामों से सम्बोधित किया गया। भक्त रचनाकारों ने सहस्र नामों की गणना का यह महान् स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया। किन्तु मैं कहता हूँ, दृढ़ संकल्प के साथ कहता हूँ, क्या ये महापुरुष सहस्र नामों की गणना में ही सीमित हो गए। नहीं, नहीं ! यह तो एक बाल प्रयत्न था भक्त मन का, जो मात्र एक भक्ति के रूप में भक्त के मनस्तोष के रूप में एक मनोरंजन था। शब्द मिल नहीं पा रहे हैं—सही अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए। तथापि एक शब्द है—'अनन्त श्री'। भगवदात्माओं की श्री कभी सीमित नहीं होती। अतः उन्हें अनन्त श्री से विभूषित किया। वास्तव में यह मानकर ही सीमित शब्द को विराम लेना है।

इतिहास में उपर्युक्त महापुरुषों से कुछ अन्य भी इसी यात्रा पथ के कुछ यात्री हुए हैं। शुरू में चले हैं, काफी ढोल - धमाके के साथ, किन्तु ज्यों ही, कुछ दूर आगे बढ़े और विघ्न - बाधाओं से सामाना पड़ा, तो उनके पैर डगमगा गए। उनकी संकल्प शक्ति सुदृढ़ नहीं थी। अतः वे थोड़ी - सी ठोकर लगते ही वहीं लुढ़क गए और मिट्टी के ढेर बनकर रह गए। वे कुछ बन सकते थे, अपने जीवन के दिव्य लक्ष्य को पा सकते थे। परन्तु, वज्र-संकल्प के अभाव में कुछ कर नहीं पाए। ज्योतिर्मय क्या बनाना था, एक साधारण से जुगनू भी तो ठीक तरह से नहीं बन पाए।

इतिहास में दोनों ही रूपों के हजारों क्या, लाखों - लाख उदाहरण हैं जो स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य वही महान् है, जो वज्र-संकल्प का धनी है। जिनकी संकल्प शक्ति अजेय थी, वे निरंतर ऊर्ध्व चेतना के रूप में अनन्त ऊर्ध्वस्थिति की ओर बढ़ते गए और अनन्तः उसे प्राप्त करके ही रहे, जिसके लिए भक्त स्तोत्रकारों ने हर्ष से आनन्द से, उल्लास से, कभी गाया था—

“त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस—

मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।

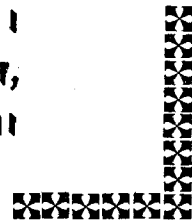
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युम्,

नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र । पन्थाः ।”



नव वसन्त

जीवन कष्ट - कंटकित है तो,
मानद ! क्यों रोया करता है ।
नव वसंत का सुमन सुगंधित,
काँटों में ही हँस - खिलता है ॥



संकल्पो हि गरीयान् :

११७

पहले अपने को परखो तो सही

भूमण्डल के सभी प्राणियों में मनुष्य एक सर्वोत्तम प्राणी है, उसकी महिमा एवं गरिमा के गीत प्रायः सभी ऋषि - मुनियों ने अपनी ज्ञान - गम्भीर वाणी में गाए हैं। किन्तु, कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं, जो अपनी जातीय गरिमा के अनुकूल नहीं हैं। उनके जीवन में मानव - जाति की श्रेष्ठता के गुण नहीं होते, फिर भी वे अपनी श्रेष्ठता का बहुत बड़ा अहंकार रखते हैं। इधर - उधर अपनी महत्ता के बेशुभ - गीत गाते रहते हैं। जब देखो, तब अपनी श्रेष्ठता की डींग हांकते रहते हैं, पर अपनी तुच्छता का जरा भी भान नहीं रखते। उनकी स्थिति 'पंचतन्त्र' के उस श्रृगाल शिशु अर्थात् शियाल के बच्चे जैसी है, जिसे अबोध शिशु समझकर सहज मातृ-हृदय की कोमल - भावना के फलस्वरूप शेरनी ने पाल लिया था। वह अपने जन्मजात दोनों बच्चों के समान ही उसे भी अपना तृतीय पुत्र माने हुए थी। किन्तु, शियाल तो शियाल ही था। उसमें सिंह के गुण कहाँ से आ सकते थे ? फिर भी अपने बल की डींग मारने में वह कुछ कम नहीं था। इस प्रकार से वह अपने आपको सिंह ही समझे हुए था। अज्ञानता के कारण तुच्छ-से-तुच्छ व्यक्ति भी अपने को महान्-से-समझने लगता है।

पञ्चतन्त्र की कथा इस प्रकार है— एक सघन वन - प्रदेश में सिंह - दम्पती रहते थे। शेरनी के अपने दो छोटे बच्चे भी थे। प्रातः काल सिंह शिकार की तलाश में अपने स्थान से चला। दिन भर इधर - उधर घूमता रहा, किन्तु उसे कोई प्राणी नहीं मिला। शशक जैसा छोटा प्राणी भी नहीं मिल पाया। सूर्य अस्त हो रहा था, संध्या निकट आ रही थी। अतः शेर थका - माँदा स्व स्थान की ओर लौट रहा था। मार्ग में उसे शियाल का एक बच्चा मिल

गया। शेर ने झपटकर उसे पकड़ तो लिया, किन्तु शिशु समझकर उसे मारा नहीं। शियाल के बच्चे को ज्यों - का - त्यों लेकर अपने स्थान पर लौट आया। शेरनी ने शेर का स्वागत करते हुए कहा—स्वामी ! कुछ लाए हो खाने के लिए ? आप गए हैं, तब से अब तक भूखी बैठी हूँ और बच्चे भी भूखे हैं।

शेर ने कुछ लज्जाते हुए कहा—क्या करूँ ? प्रिये ! आज मेरे भाग्य ने कुछ भी साथ नहीं दिया। दिन भर यूँ ही इधर-उधर भटकता रहा, कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका, मार्ग में यह शियाल का बच्चा मिला है। बाल समझ कर इसे मारा तो नहीं, यों ही इसे जीवित ही ले आया हूँ। इसे मारकर तू अपने आज के भोजन का काम चला ले।

शेरनी भी, शेरनी ही थी। माता का वात्सल्यपूर्ण हृदय रखती थी। अतः उसने शेर से कहा—जब आपने ही इसे बाल समझकर नहीं मारा, मैं तो बच्चों की माँ हूँ। मैं इसे कैसे मार सकती हूँ ? अब तो यह मेरे दो पुत्रों के समान तीसरे पुत्र के रूप में मेरे पास रहेगा।

शेरनी ने अपने दोनों बच्चों के समान ही उसे पाल - पोषकर कुछ बड़ा कर लिया। तीनों बच्चों साथ - साथ घूमते, साथ - साथ खाते - पीते और खेलते। उन तीनों को अपनी जातीय भिन्नता का भी कोई विशेष बोध नहीं था। तीनों ही शेरनी को ही अपनी माँ समझते थे।

एक दिन अपने निवास स्थान की कुछ दूरी पर तीनों बच्चे खेल रहे थे। इधर - उधर भाग - दौड़ कर रहे थे। इतने में जंगल का एक विशाल - काय हाथी उधर से आ निकला। वह अपनी धुन में आगे कहीं जा रहा था। शेर के बच्चे तो शेर ही थे न ? अतः उन्होंने कहा—आओ, आज हाथी का शिकार करें। बड़ा मजा आएगा। हाथी महान् विशाल काय था, शेर के बच्चे लघु-काय थे, फिर भी अपने सिंह जातीय स्वभाव के कारण निर्भय एवं निर्द्वन्द्व थे। अतः वे हाथी से डरे नहीं, अपितु हाथी को मारने की बात करने लगे। परन्तु, वह शियाल का बच्चा तो मूलतः शियाल ही था न ? उसमें सिंह के बच्चों जैसी निर्भयता कहाँ

पहले अपने को परखो तो सही :

थी ? वह बोला—अरे ! मूर्खों, क्या कर रहे हो ? यह इतना विशाल काय हाथी और तुम हो क्षुद्र काय ? हाथी को क्या मारोगे ? वही तुम्हें मार देगा । आओ, घर भाग चलो । यह कह कर वह अपने निवास स्थान की ओर भाग चला ।

वह शियाल का बच्चा भागा, तो उसके पीछे - पीछे शेर के बच्चे भी चले आए । शियाल के बच्चे ने शेरनी से शिकायत की कि ये दोनों भाई कितने मूर्ख हैं, जो एक विशाल - काय हाथी को मारने की बात कर रहे थे । देखो, मैं इन्हें बचा लाया ।

शेर के बच्चों ने शेरनी से कहा—माँ यह भैया तो बड़ा डरपोक है । हाथी को देखते ही डर गया, और भाग आया । इस प्रकार शेर के बच्चे उसका मजाक करने लगे ।

शियाल मजाक सहन न कर सका, उसने क्रुद्ध होकर शेरनी से कहा—इन मूर्खों को समझा दो, कि मेरा मजाक न करें, अन्यथा मैं इन्हें मार दूँगा । ये अपने को बड़ा बलवान समझते हैं और मुझे निर्बल । मैं भी कुछ कम नहीं हूँ । मैं अकेला ही हाथी को मार सकता था, परन्तु इन्हें बचाने के लिए चला आया ।

शेरनी ने शियाल के बच्चे को सब पुरानी घटित घटना सुनाते हुए कहा—वस्तुतः तू शेर नहीं शियाल है । ये बच्चे अभी अज्ञान हैं, समझते नहीं हैं । बड़े होने पर जब इन्हें पता चलेगा कि तू शियाल है, तो क्रुद्ध होकर तुझे मार देंगे । तेरी हड्डी - पसली सब बिखेर देंगे । अतः जब तक इन्हें पता नहीं चलता है, तभी तक तू सुरक्षित है । यदि तू अपने प्राण बचाना चाहता है, तो शीघ्र ही भाग जा और अपनी जाति में जाकर मिल जा । तेरी जाती में कोई ऐसा नहीं है, जो हाथी को मार सके—

“यस्मिन् कुले त्वमोत्पन्न, गजस्तत्र न हन्यते ।”

इतना सुनना था कि शियाल डर गया और तत्काल भागकर शियालों में जा कर मिल गया ।

पंचतंत्र की कथा का सार यह है, कि व्यक्ति को अपना व्यक्तित्व एवं अपनी शक्ति पहचानकर ही काम करना चाहिए । किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपने बलबुते को ठीक तरह नहीं पहचान पाते हैं । अहंकार - ग्रस्त होकर अपनी योग्यता से

विपरीत काम करते हैं, और मारे जाते हैं। शक्ति का कितना ही प्रदर्शन क्यों न करो, आखिर एक दिन तो पोल खुल ही जाती है।

कुत्ते को शेर की खाल पहनाकर शेर बना भी दिया जाए, तो क्या वह वस्तुतः शेर बन जाता है? कुत्ता आखिर कुत्ता ही है न? मत्त गजेन्द्रो के मस्तकों को उत्पाटन करने वाले केशरी-सिंह की तरह वह गर्जन कैसे करेगा? कुत्ता भौंक सकता है, सिंह-नाद तो नहीं कर सकता।

“आबद्धकृत्रिमसटा जटिलां सभित्ति-
रारोपितोमृगपतेः पदवीं यदि श्वा ।
मत्तेभकुंभतटपाटन लम्पटस्य,
नादमकरिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ॥”

कुछ मनुष्य भी उक्त स्थिति के ही होते हैं। ये बौने बड़ों का बाना पहनकर बड़े नहीं बन सकते। महान्, महान् ही होते हैं? महान् होने के लिए महत्ति योग्यता की अपेक्षा है। यदि वह योग्यता नहीं है, तो कृत्रिम महत्ता कब तक सुरक्षित रह सकती है? अन्ततः उसकी पोल खुलकर ही रहती है।

मैंने कितने ही ऐसे वज्र मूर्ख देखे हैं, जो शास्त्रज्ञान के नाम पर अहंकार तो बहुत बड़ा रखते थे, किन्तु वे जानते कुछ भी नहीं थे। उन लोगों को विद्वत् सभा में यों ही अंटसंट बोलते तथा परिहास पाते हुए देखा है। इधर-उधर अनुवाद के आधार पर संस्कृत तथा प्राकृत के कुछ पन्ने उलट-पलट कर शताधिक अशुद्धियों से परिपूर्ण कुछ श्लोक याद कर लेते हैं और अपने पाण्डित्य का साधारण जनों में व्यर्थ के अहंकार के साथ प्रदर्शन करते रहते हैं। ऐसे ही लोगों के लिए किसी कवि ने कभी लिखा था—

“सारस्वतं श्रुतिपथं न कदापि नीतं ।
काव्यं न कोमल पदावलि दृक् समक्षम् ॥
अन्धेषु मूर्ख - बहुलेषु समाजकेषु ।
पाण्डित्यमेवममलं प्रकटी - करोति ॥”

कितना अच्छा होता इनको अपने बल, बुद्धि और व्यक्तित्व का भान होता, पर होता कैसे? पुण्यशाली आत्माओं को ही

पहले अपने को परखी तो सही :

१२१

अपनी अन्तर्-क्षमता का भान होता है। भाग्यहीनों को यह सौभाग्य कैसे मिल सकता है ?

प्राचीन इतिहास के उदाहरणों के सघन-वन में जब हम पहुँचते हैं, तो हमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं कि जो अहंकार से उन्मत्त हो गए थे। फलस्वरूप हवा भरे गुब्बारे के समान आकाश में उड़ने लगे थे। ज्यों ही किसी चोट के कारण सच्छिद्र हुए और हवा निकली, कि भूमि पर बुरी तरह गिर पड़े।

रावण को अपनी शक्ति का बहुत बड़ा अभिमान था और इसी शक्ति की भ्रान्ति के कारण, वह मदान्ध होकर दण्डकारण्य से एकान्त में अकेली बैठी सीता को चुरा लाया था। रावण ने यह नहीं सोचा, कि श्री राम और लक्ष्मण मेरे से कितने अधिक बलवान हैं। भले ही वर्तमान में अकेले हैं, वनचारी भी हैं, किन्तु उनकी शक्ति तो बहुत बड़ी है। वे इतिहास को बदलने में समर्थ हैं। और, अन्ततः ऐसा हुआ भी। वह अपने मिथ्या अहंकार में विराट् शक्तिशाली राक्षस कुल का सर्वनाश कर बैठा-अपने व्यक्तित्व को ठीक तरह से न समझने के कारण।

दुर्योधन कुरुवंश का राजपुरुष है। इसने इधर - उधर से अपने छल - छद्म एवं खुशामद से काफी बड़ी शक्ति का संचय कर लिया था। काफी बड़ी संख्या हो गई थी उसके पास, वीर - पुरुषों की। और, इस पर उसे इतना गर्व हो गया था कि वह तत्कालीन महाति महान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को भी तुच्छ समझने लगा। भीम और अर्जुन जैसे महाबली पाण्डवों को भी तिनके के समान नगण्य समझता था। अज्ञान - पूर्ण मदान्धता के कारण उसने न श्री कृष्ण की महत्ता को समझा और न पाण्डवों के महाबली व्यक्तित्व को। परिणाम क्या हुआ ? अपने विराट् कुल का विनाश कर बैठा और युद्ध के अन्त में खुद भी काल की ठोकरें खा कर यातना - लोक का यात्री हो गया। यदि वह पहले से ही अपने दुर्बल व्यक्तित्व को समझ लेता, कि मैं क्या हूँ ? अपनी शक्ति को तोल कर विवेक पूर्वक कार्य करता, तो यह सब - कुछ न हुआ होता। महाभारत के युद्ध की यह सर्वनाशी घटना पवित्र भारतीय इतिहास को कदापि कलंकित नहीं करती।

महाश्रमण भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध के जीवन काल की घटनाएँ हैं। भगवान् महावीर का एक कुशिष्य है— गौशालक। उसने साधना के बल पर कुछ योग - शक्तियाँ प्राप्त कर ली। उनके कारण उसे इतना उद्वण्ड दर्प हो गया कि उसने अपना एक नया संघ ही खड़ा कर लिया। यह सब हो जाता है, कोई बात नहीं। किन्तु, उसे अपनी क्षुद्र शक्ति का इतना अहंकार हुआ कि वह एक तरह पागल हो गया। उसके फलस्वरूप भगवान् महावीर के समवसरण में जाकर उसने जो गुंडागर्दी की है, वह इतनी मूर्खता पूर्ण है, जैसे की कोई शियाल महाबली सिंह से युद्ध करने की ठान ले और अन्ततः उसका दुष्परिणाम पा कर इतिहास के रंगमंच पर खलनायक के रूप में देखा जाए।

तथागत भगवान् बुद्ध का एक शिष्य है, देवदत्त। वह भी बड़ा घमण्डी था और आनन्द आदि उन गुरु बन्धुओं से जलता था, जो सर्वात्मना अपने शास्ता बुद्ध के चरणों में समर्पित थे। बौद्ध इतिहास साक्षी है, देवदत्त का अन्ततः क्या हुआ? उसने अनेक प्रयत्न किये थे भगवान् बुद्ध को मार देने के। परन्तु भगवान् बुद्ध का तो कुछ नहीं बिगड़ा, परन्तु देवदत्त स्वयं ही पवित्र धर्माचरण के इतिहास में घृणा का पात्र हो गया और इस तरह एक प्रकार से यशोहीनता को भयंकर मृत्यु को प्राप्त हुआ, जो देह को मृत्यु से भी अधिक भयंकर होती है।

इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। किन्तु, अब अधिक लम्बाई में जाने का समय नहीं है। लेख का आशय उपर्युक्त उदाहरणों से ही अच्छी तरह स्पष्ट हो गया है।

आशय इतना ही है कि व्यक्ति को कुछ यों ही इधर - उधर के तुच्छ आधार पाकर अपने को महान् नहीं समझ लेना चाहिए। व्यर्थ के अहंभाव से कुछ लाभ नहीं है। विनम्रता ही मनुष्य को गुणवत्ता की दृष्टि से यथार्थ में मनुष्य बनाती है। और, यदि कभी प्रसंगवश करना भी पड़े, तो अपनी शक्ति और साधनों का यथार्थ रूप समझ लेना चाहिए। अपने को तोल लेना आवश्यक है। अपने को बिना तोले, यों ही दर्पान्ध होकर उछल - कूद करना कुछ भी अर्थ नहीं रखता है। अपने जीवन काल में तो वह निन्दा का

पहले अपने को परखो तो सही :

१२३

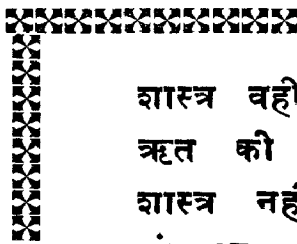
पात्र होता ही है, साथ ही इतिहास के चिरातिचिर दीर्घकाल तक भी निन्दित के रूप में दुर्नाम ही बना रहता है।

अतः आवश्यक है—पहले अपने को परखो, समझो और कुछ बनाओ। तत्पश्चात् अभीष्ट - कार्य की सिद्धि के लिए कर्म क्षेत्र के मैदान में उतरो। कर्म - क्षेत्र में काम करने वालों को भारतीय मनीषियों का कल्याणकारी उपदेश है—

“कश्चाऽहं काच मे शक्ति—
रिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः”

उक्त सूक्ति का भावार्थ है कि बुद्धिमान मनुष्य को कर्तव्य क्षेत्र में उतरते समय यह निरन्तर विचार करना अपेक्षित है—मैं कौन हूँ ? और, मेरी क्या शक्ति है ? जो उक्त सिद्धान्त पर स्पष्ट रूप से चिन्तन - मनन करता है, वह अवश्य ही अभीष्ट सफलता के शिखर पर पहुँचता है, और जनता में चिरकाल तक आदर एवं सम्मान प्राप्त करता रहता है। इतना ही नहीं, कुछ तो ऐसे विराट् पुरुष हो जाते हैं, कि वे इतिहास - पुरुष के नाम से यशस्विता एवं प्रसिद्धि भी प्राप्त कर लेते हैं। उनके जीवन के उज्ज्वल एवं ज्योतिर्मय उदाहरण चिर - काल तक भविष्य की प्रजा के लिए सत्कर्म की प्रेरणा के अखण्ड स्रोत बन जाते हैं

जनवरी १९८६



शास्त्र वही, जो जन - जीवन में,
ऋत की ज्योति जगाता है।
शास्त्र नहीं वह, जो जड़ता का-
अंधकार फैलाता है।



महाभारत युग की दो वीर माताएँ

मानव - जाति की मणिमय पारिवारिक श्रृंखला में माता का स्थान शिखर स्थानीय सर्वोत्तम मणिरत्न के रूप में है। वह सृजन की देवी है। वह अपनी संतति के मात्र तन का ही सृजन नहीं करती है, अपितु, मन - बुद्धि और चित्त के उदात्त संस्कारों का भी सृजन करती है। सुशिक्षित, उदात्त, संस्कारापन्न माता परिवार में स्वर्गीय दिव्यता का अवतरण कर सकती है। यह दिव्य सृजन ही माता का तत्त्वतः मातृत्व है।

तन के सृजन का अधिक महत्त्व नहीं है। तन के सृजन की माँ तो पशु - पक्षी - कीट - पतंग- जलचर आदि अन्य क्षुद्र प्राणियों के यहाँ भी मिल सकती है। किन्तु, वह माता मात्र अल्प कालावधि तक ही रहती है। शरीर के अमुक काल तक के पोषण तक ही परिसीमित रहती। तदनन्तर न वह माता, माता रहती है और न वह संतान, संतान। माता और संतति का मानव - जाति के समान स्थायी संबंध जैसा वहाँ कथमपि नहीं है।

मातृ - जाति का इतिहास गौरवपूर्ण इतिहास है। उसके द्वारा दीन - हीन एवं क्षीण होती हुई संतति को वह तेजस्वितापूर्ण चेतना मिली है कि मानो मुर्दे पुनः जीवित हो उठे हैं। शव में शिवत्व जागृत करनेवाली परिवार में माता ही रही है। अन्य देशों के इतिहास को एक ओर छोड़ देता हूँ। भारत के इतिहास के ही इस संबंध में स्वर्णिम पृष्ठ जिज्ञासु पाठकों के समक्ष रख रहा हूँ।

महाभारत हमारे समक्ष है। पुरुषोत्तम वासुदेव, नारायण श्री कृष्ण, पाण्डव और कौरव के बीच होनेवाले, बन्धु - युद्ध की निवृत्ति के लिए अपनी विश्व विश्रुत गरिमा की कुछ भी चिन्ता न

करते हुए कौरवों के यहाँ दूत बन कर जाते हैं। सभा में सब के समक्ष शान्ति का प्रस्ताव रखते हैं। समग्र साम्राज्य का प्रश्न छोड़ कर केवल पाँच गाँव तक की याचना करते हैं। फिर भी अहंकार एवं लोभ की पिशाच - भावना से ग्रस्त दुर्योधन कुछ भी मानने के लिए तैयार नहीं है। अतः श्री कृष्ण वापिस लौटते हुए पाण्डवों की माता सती - रत्न विदुषी कुन्तीजी से मिलते हैं और पाण्डवों के लिए सन्देश देने के लिए कहते हैं। यह वह प्रसंग है, जो यथार्थ माँ के मातृत्व का प्रसंग है।

कुन्ती श्री कृष्ण से कहती है—युधिष्ठिर से कहना, कि वह अपने क्षत्रिय कर्तव्य का सही-सही रूप अदा करे। क्षत्रिय पराश्रित होकर जीवन नहीं गुजारता है। ऐसा करना उसके लिए पाप है। वह अपनी भुजाओं से अर्जित सम्पत्ति का ही उपयोग करता है—

“बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा, बाहुवीर्योपजीविनः।” उद्योगपर्व १३२,७

—क्षत्रिय वही है, जो क्षत होती हुई प्रजा का त्राण करता है।

“क्षत्रियोऽसि क्षतात् त्राता, बाहुवीर्योपजीविता।”—३१

अब वह समय आ गया है, कि वह अपने बाहुबल के द्वारा अपने खोये हुए ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त करे। प्रजा-पालन रूप जो क्षत्रियों का वास्तविक धर्म है, उसका साहस के साथ पालन करे, उसे व्यर्थ न खोए।

“भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः।”

जो श्रोत्रिय ब्राह्मण वेद-मन्त्रों का कुछ भी अर्थ न जानने हुए केवल शब्दों की अनुवृत्ति करता रहता है, उसकी बुद्धि शब्द पाठ के रटन में ही नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार यदि तू केवल अर्थ हीन शांति पाठ करता है, तो वह क्षत्रियत्व को दृष्टि से तत्त्वहीन है।

“श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः।

अनुवाकहता बुद्धिर्धर्ममेवैकमीक्षते ॥६॥”

प्रस्तुत चर्चा में कुन्तीजी ने ज्योतिर्मयी वीर माता विदुला का एक महत्त्वपूर्ण उपाख्यान उपस्थित किया है। शौर्य एवं साहस का वह जीवंत उपाख्यान है। भारतीय इतिहास में प्रस्तुत उपाख्यान की महती प्रतिष्ठा है, जो विदुला को सहस्राधिक वर्षों से

भी अधिक महाकाल की यात्रा में भी अजर-अमर बनाए हुए है। हम भी यहाँ समयोचित दृष्टि से उस उपाख्यान के कुछ अंश जिज्ञासु पाठकों के हितार्थ उदात्त संस्कारों के निर्माण की दृष्टि से अग्रिम पंक्तियों में उपस्थित कर रहे हैं।

वीर माता विदुला के राज्य पर सिन्धु देश के नरेश ने आक्रमण किया है। विदुला का पुत्र भोग-विलासी है, अतः वह भोगासक्त होकर एक क्षुद्र कायर की भाँति राजप्रासाद में जीवन बिता रहा है। अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रत्याक्रमण के रूप में कुछ भी नहीं कर रहा है। तेजोमूर्ति विदुला के लिए यह सब असह्य है। उसका राष्ट्र - प्रेम, पुत्र-प्रेम से आहत नहीं होता है। युद्ध में पुत्र का क्या होगा? इसकी कुछ भी चिन्ता न करते हुए वह अग्नि - शिखा के समान जाज्वल्यमान होती हुई पुत्र के समक्ष उपस्थित हो जाती है। और, पुत्र के मृत - प्रायः प्राणों में अपनी वाक् - शक्ति की संजीवनी के द्वारा पुत्र की मृत - चेतना को जागृत करती है, और उसके मृत - प्राणों में नव - जीवन का संचार करती है। अंधकाराच्छन्न रात्रि में मानो सूर्य उदित हो गया हो, ऐसा दृश्य उपस्थित हो जाता है। पुत्र साहस के साथ “युद्धायकृत निश्चयः” होकर अपने राष्ट्र की मुक्ति के लिए सहसा एक महान् राष्ट्र भक्त वीर की भाँति खड़ा हो जाता है।

विदुला ने कहा है—पुत्र ! तू मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है, फिर भी मुझे आनन्दित करने वाला नहीं है। तू तो शत्रुओं की ही आनन्दित करनेवाला है। उनका ही हर्ष बढ़ाने वाला है—

“अनन्दन मया जात द्विष्यतां हर्षवर्धन ।” १३३.५

तू क्षोभहीन है, तेरी क्षत्रियों में कोई गणना नहीं है, तू नाम मात्र का पुरुष है, साहसहीन मन आदि की दृष्टि से तो तू तत्त्वतः नपुंसक है। क्या अपने समग्र जीवन के लिए निराश हो चुका है? अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। शौर्य के साथ खड़ा हो जा और राष्ट्र के कल्याण हेतु क्षत्रियोचित कर्तव्य का भार वहन कर—

“निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीबसाधनः ।
यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरंवह ॥६॥”

महाभारत युग की दो वीर माताएँ :

१२७

अपने को दुर्बल एवं हीन मानकर स्वयं ही अपनी अवहेलना न कर। अपने जीवन को अल्प साधनों के भरोसे ही न रख। अपने मन को कल्याणमय बना, अधिकाधिक शुभ संकल्पों से शक्तिशाली बना। अतः भय का परित्याग कर निर्भय हो जा—

“माऽऽत्मानभवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः ।

मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ॥७॥”

ओ कायर ! उठ, खड़ा हो, इस प्रकार शत्रु से पराजित हो कर, उद्योगहीन हो कर शय्या पर न पड़ा रह। इस तरह से तो तू अपने शत्रुओं को ही आनन्द दे रहा है। अपने वंश की मान-प्रतिष्ठा को खो कर तू अपने प्रिय बन्धु जनों को शोकाकुल कर रहा है—

“उत्तिष्ठ हे का पुरुष ! मा शेष्वैवं पराजितः ।

अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धुशोकद ॥८॥”

जैसे छोटी क्षुद्र नदी थोड़े जल से अनायास ही भर जाती है और चूहे की अंजलि थोड़े-से अन्न ही में भर जाती है, उसी प्रकार कायर को संतोष दिलाना बहुत सुगम है, वह अपनी दुर्बलता के फलस्वरूप अल्प लाभ से ही संतुष्ट हो जाता है।

“सुपूरा वै कुनदिका सुपुरो मूषिकाञ्जलिः ।

सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ॥९॥”

विदुला माँ है, माँ को अपने पुत्र के जीवन की सबसे बड़ी चिन्ता रहती है। फिर भी देखिए, विदुला अपने महान् राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने प्रिय पुत्र के जीवन की भी कोई चिन्ता नहीं करती है। फलतः पुत्र के सुप्त साहस को जागृत एवं उद्दीप्त करती हुई कितनी अधिक ओजपूर्ण भाषा में कह रही है—

तू अपने राष्ट्र के सर्प रूप भयंकर शत्रु के दाँतों को तोड़ता हुआ भले ही मृत्यु को प्राप्त हो जा। प्राणों के नष्ट होने की कितनी ही अधिक संभावना क्यों न हो, फिर भी राष्ट्र - रक्षा हेतु युद्ध में पराक्रम करना अत्यावश्यक है—

“अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रासाश्वेव निधनं व्रज ।

अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमे ॥१०॥”

पुत्र ! अपने क्षत्रिय धर्म को लक्ष्य में रखकर पराक्रम प्रकट कर अथवा उस गति को प्राप्त हो जा, जो समस्त प्राणियों के लिए सुनिश्चित है। अन्यथा तू किसलिए जी रहा है ? अर्थात् इस प्रकार अर्थहीन जीने का क्या उद्देश्य है ?

“उद्भावं यस्य वीर्यं वातां वा गच्छ ध्रुवां गतिम् ।
धर्मं पुत्रायतः कृत्वा किं निमित्तं हि जीवसि ॥” १७

कायर ! तेरे लोक जीवन सम्बन्धी इष्ट और आपूर्त कर्म नष्ट हो गए हैं और सुखोपभोग का साधन राज्य भी छीन लिया गया है। फलतः सारी कीर्ति विनष्ट हो गई है। बता, अब तू किसलिए जी रहा है ?

“इष्टापूर्तं ही ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता ।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किं निमित्तं हि जीवसि ॥” १८

जीवन का मूल्य तेजस्विता में है। वह जीवन अल्प है या दीर्घ है, इस अर्थ में नहीं। तेजस्वी प्रज्वलित दीप्तिमान जीवन अल्प भी महान् है। तेजो हीन निष्कर्म जीवन शतायु हुआ तो भी क्या ? विदुला इसी सन्दर्भ में कहती है—मूर्हतं मात्र का तेजस्वी प्रज्वलित जीवन ही श्रेयस्कर है, न कि धूमयित अर्थात् अपकर्म का धुँआ छोड़ता हुआ दीर्घ जीवन।

“मूर्हतं ज्वलितं श्रेयो न च धूमयितं चिरम् ॥” १९

क्षत्रिय की जय और पराजय का बहुत बड़ा विकल्प रहता है। उसका चिन्तन कर्महीन होकर अधिकतर जीतूँगा या हारूँगा, इसी विकल्प में उलभा रहना है। क्षत्रिय ही क्यों, आमतौर पर मनुष्य मात्र को कर्म-क्षेत्र में हानी और लाभ का ही विकल्प उसे साहस के साथ कुछ करने नहीं देता। इसलिए श्रीकृष्ण ने गीता में कहा था—“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।”

अपने पुत्र को उत्साहित करते हुए विदुला भी यही कहती है—बुद्धिमान पुरुष निर्धारित अभीष्ट फल की प्राप्ति हो या न हो, इसकी चिन्ता नहीं करता है। वह अपनी शक्ति के अनुरूप प्राण-पण से साध्य के हेतु निरन्तर चेष्टा करता है और अपने ही व्यक्त-गत लाभ के हेतु विकल्प - जाल में कभी भी नहीं उलभता है—

“अलब्ध्वा यदि वा लब्ध्वा नानुशोचित पण्डितः ।

आनन्तर्ये चारभते न प्राणानां घनायते ॥” २०

—जिसके महान् और अद्भुत पुरुषार्थ एवं चरित्र की यशस्वी चर्चा नहीं होती है। वह मनुष्य अपने द्वारा राष्ट्र में केवल जन-संख्या में वृद्धि करनेवाला है। मेरी दृष्टि में वह व्यक्ति न स्त्री है, और न पुरुष—

“यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महद्भुतम् ।

राशिवर्धनं मात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥” २२

दान, तपस्या, सत्य - भाषण, विद्या तथा ऐश्वर्य आदि में जिसके सुयश का सर्वत्र बखान नहीं होता है, वह मनुष्य अपने माता का पुत्र नहीं, मल-मूत्र मात्र है—

“दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चारितं यशः ।

विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥२३”

संसार की कोई भी नारी ऐसे पुत्र को जन्म न दे, जो निर्मर्ष अर्थात् स्वाभिमान शून्य, उल्लासहीन, बल और पराक्रम से रहित तथा विरोधी पक्ष को आनन्द देनेवाला हो—

“निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यं मरिचनन्दनम् ।

मा स्म सीमन्तिनी कश्चिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ॥” ३०

निश्चेष्ट प्रमादी मनुष्य कभी कोई महत्ता प्राप्त नहीं कर सकता—

“निरीहो नाश्नुते महत् ।”

भृत्यहीन, दूसरों के अन्न पर जीनेवाले दीन, कृपण और दुर्बल मनुष्यों की वृत्ति का अनुसरण न कर ।

“भृत्यैर्विहीयमानानां परपिण्डोपजीविनाम् ।

कृपणानामसत्त्वानां मा वृत्तिमनुवर्तिथाः ॥” ४१

जो क्षत्रिय जीवन के भय एवं प्रलोभन से अपने कर्तव्य से पराङ्मुख होकर अपने यथाशक्ति पराक्रम के द्वारा अपना यथार्थ तेज प्रकट नहीं करता है, वह क्षत्रिय नहीं, अपितु चोर है। धन का चोर ही चोर नहीं, सबसे बड़ा चोर तो कर्तव्य से भ्रष्ट चोर है।

“यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात् ।

क्षत्रियो जीविताकांक्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥” २५

अपने हृदय को इस्पाती अर्थात् सुदृढ़ बनाकर अपने खोये हुए सत्व को प्राप्त कर—

“आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम् ।”

सफलता होगी ही, ऐसा मन में विश्वास लेकर निरन्तर विषाद रहित होकर तुझे उठना चाहिए और सजग भाव से ऐश्वर्य-शाली सत्कर्म में लग जाना चाहिए—

“उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ।

भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्ययैः ॥” १३५, २६

संजय ! परिपक्व फल वाले वृक्ष के समान जिस पुहष का आश्रय लेकर सब प्राणी जीविका चलाते हैं, उसी का जीवन सार्थक है ।

वीर माता के वीर वचनों से तेजस्वी वाक्वानों से विद्ध होकर संजय का सुप्त वीरत्व जाग उठा । अब वह केवल नाम का ही संजय न रहा, अपितु यथानाम तथागुण के अनुरूप यथार्थ रूप में संजय अर्थात् सम्यक् - विजेता हो गया । वह वीर माता ही थी, जिसने संजय को वीरता के पथ पर साहस के साथ आग्रसर कर अपने राष्ट्र की समुचित रक्षा की और संजय को राज सिंहासन समुपलब्ध कराया ।

विदुला का यह उपदेश काफी विस्तृत है । हम यहाँ इसे समेट लेते हैं ।

विदुला का यह तेजस्वी प्राणप्रद राष्ट्र गौरव का सन्देश ही इतना महत्त्वपूर्ण है कि स्वयं कुन्तीजी ने कृष्ण को विदुला के संबंध में विदुला की प्रशंसा करते हुए कहा है—

“यशस्विनी मन्युमती कुले जाता विभावरी ॥ १३३, २

क्षत्रधर्मरता दान्ता विदुला दीर्घदर्शिनी ।

विश्रुता राज संसत्स श्रुतवाक्या बहुभुता ॥ ३ ॥”

विदुला यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिय, उत्तम-कुलीन, क्षत्रिय धर्म परायण दूरदर्शिनी थी । राजाओं की मंडली अर्थात् सभाओं में उसकी बड़ी विद्वतापूर्ण ख्याति थी । वह अनेक

महाभारत युग की दो वीर माताएँ :

१३१

शास्त्रों की मर्मज्ञ थी और महापुरुषों के वचनों से यथोचित लाभ उठानेवाली थी ।

माता कुन्ती भी विदुला से कम नहीं थी । दीर्घ जीर्ण-शीर्ण वृद्धावस्था में भी उसके वचन इतने तेजस्वी हैं, जो महाति - महात् कहे जाने वाले वीर पुरुषों में भी सहज सुलभ नहीं होते । वह वीरता की साक्षात् जीवन्त मूर्ति है । उसके हर वचन में प्राणवान शौर्य का निर्भर प्रवाहित है । अतः कुन्तीजी का साक्षी रूप में हम यहाँ एक वचन उद्धृत कर रहे हैं—

युधिष्ठिर ! तुम जिस कृपण बुद्धि के सहारे चल रहे हो, उसके लिए न तो तुम्हारे पिता पाण्डु ने, न मैंने और न तुम्हारे पितामह ने ही पहले कभी आशीर्वाद दिया था अर्थात् तुम्हारे में ऐसी दुर्बल बुद्धि की कामना किसी ने नहीं की थी—

“न ह्येतामाशिषं पाण्डुनं चाऽहं न पितामहः ।

प्रयुक्तथन्तः पूर्वं ते यया चरसि मेधया ॥” १३१, २३

मैं तो तेरे लिए सदा आशीर्वाद रूप में यही मनाती रही हूँ कि तुझे यज्ञ अर्थात् जन - सेवा, दान, तप, शौर्य, बुद्धि, संतान, महत्त्व, बल और ओज की प्राप्ति हो —

“यज्ञो दानं तपः शौर्यं प्रज्ञा संतानमेव च ।

महात्म्यं बलमौजश्च नित्यमाशसितं मया ॥” २४

आज राष्ट्र को इन्हीं वीर माताओं के चरित्र वाली उदात्त, उदार, साहसी, राष्ट्रभक्त माताओं की आवश्यकता है । ये ही वे माताएँ हैं, जो परिवार, समाज, राष्ट्र और धर्म की रक्षा करने वाली साक्षात् भगवती हैं ।



तीर्थंकरों के कल्याणक : एक समीक्षा

संसार के प्रत्येक प्राणी का जीवन घटनाओं का एक विराट् चक्र है। जीवन हो, और वह घटना शून्य हो, यह सर्वथा असम्भव है। यह बात दूसरी है, कि कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं, जिनमें व्यक्ति स्वयं रोता है और दूसरे हँसते हैं। इसके विपरीत कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं, जिनमें दूसरे रोते हैं और स्वयं हँसता है। और कुछ घटनाओं में अनेक व्यक्ति मिल - जुल कर हँसते हैं, रोते हैं। उक्त घटनाओं का प्रभाव क्षेत्र देश-काल की कुछ सीमाओं तक ही सीमित होता है।

किन्तु, कुछ महापुरुषों और दिव्य आत्माओं की जीवन घटनाएँ साधारण जागृतक जीवों से भिन्न ही होती हैं। उन घटनाओं का प्रभाव - क्षेत्र भी देशासीत एवं कालातीत होता है। और, वह प्रभाव वस्तुतः प्रभाव होता है, जो जन - जीवन के लिए सर्वतो भावेन कल्याण रूप होता है। इसी अर्थ में हम जैन - परम्परा के तीर्थंकरों के जीवन की घटनाओं को साधारण घटना के रूप में न लेकर, कल्याणक के रूप में सुगृहित करते हैं।

तीर्थंकरों के जीवन में वैसे तो अनेक घटनाएँ होती हैं, किन्तु हम उनमें से पाँच को मुख्य रूप से लेते हैं। जिन्हें हम छोटे - बड़े अनेक मतभेदों के होते हुए भी सभी परम्पराएँ कल्याणक रूप में पूज्य भाव से स्वीकार करती हैं। वे पाँच कल्याणक हैं—च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण।

मैं स्वयं जैन - धर्म का एक साधक भिक्षु हूँ। अतः मैं भी सभी कल्याणकों के प्रति समादर का भाव रखता हूँ। फिर भी मेरे अन्तर्मन की चिन्तन - धारा में कुछ ऐसी तर्क की विचार-तरंगे उठ रही हैं, जिन्हें मैं यहाँ अभिव्यक्ति देना चाहता हूँ।

तीर्थंकरों के कल्याणक : एक समीक्षा :

च्यवन - कल्याणक मुझे कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं लगता । पूर्व-जन्म की आयु क्षीण हुई और आत्मा पूर्व-बद्ध कर्मानुसार नया जन्म ग्रहण करने के लिए किसी विशेष स्थान, विशेष कुल एवं विशेष माता के यहाँ गर्भ में अवतरित हो गई । यह हुआ च्यवन कल्याणक । प्रश्न है-इस कल्याणक में क्या वैशिष्ट्य है । कर्म-योग से कहीं-न-कहीं जन्म लेना था, कहीं-न-कहीं अवतरित होना था और अवतरित हो गए । कितनी ही बार चिन्तन करने पर भी उक्त कल्याणक की महत्ता सम्बन्धी जिज्ञासा का मुझे कोई खास समाधान नहीं मिला ।

दूसरा कल्याणक है-जन्म । गर्भ में अवतरित हुआ है, तो आत्मा समय पर गर्भ से बाहर आता ही है, जन्म लेता ही है । यह तो एक प्राकृतिक घटना है । उक्त घटना क्रम में से, यदि कोई विघ्न, बाधा उपस्थित न हुई, तो सब को गुजरना ही होता है । यह ठीक है कि महापुरुषों का जन्म भविष्य के अनेक शुभ - संकेतों को लेकर प्रसन्नता का वातावरण प्रसारित करता है । फिर भी जन्म तो जन्म ही है । उसकी दिव्यता जन्म - काल के वर्तमान में नहीं, किन्तु महान् ज्योतिर्मय उज्ज्वल भविष्य में है ।

पाँचवाँ कल्याणक निर्वाण है । जिसकी चर्चा मैं जान-बूझकर यहाँ पहले ही कर रहा हूँ । यह इसलिए कि उक्त घटना तीर्थंकरों के जीवन की अपनी एक व्यक्तिगत घटना है । और, यह केवल तीर्थंकरों के ही जीवन की घटना नहीं है, किन्तु प्रत्येक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग, निरंजन, निर्विकार, अर्हद् अवस्था को प्राप्त आत्मा को प्राप्त होती है । जैन-धर्म में साधक पूर्ण वीतराग होने पर सर्व प्रथम अर्हत् होता है और तदनन्तर कुछ शेष रहे हुए भोग्य कर्मों का भोग भोगकर आयु समाप्त होने पर निर्वाण प्राप्त कर लेता है । अर्हत् होने के लिए तो वीतरागता की विशिष्ट साधना करनी होती है, किन्तु अर्हत् होने के पश्चात् निर्वाण एवं सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए कोई विशिष्ट साधना नहीं करनी होती । मात्र अघाति कर्म, जो कि वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं, उन्हें भोग लेना होता है । ये कर्म नये कर्म के बन्ध रूप में आत्म स्वरूप के घातक नहीं होते हैं । भगवान् महावीर के संघ

में उनके द्वारा दीक्षित सात सौ केवलज्ञानी महान् आत्माओं ने निर्वाण प्राप्त किया है। किन्तु, उनके निर्वाण को कल्याणक के रूप में क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है ? जैसे यह निर्वाण की घटना उनकी साधना के फलस्वरूप उनकी व्यक्तिगत घटना है, वैसे ही तीर्थंकरों को भी है। दोनों में क्या अन्तर है ? कुछ भी तो नहीं।

मेरी समझ में नहीं आता, निर्वाण को महोत्सव का रूप क्यों दिया जाता है ? महोत्सव तो हर्ष, उल्लास और आनन्द का होता है। क्या हमें तीर्थंकरों के निर्वाण से कोई हर्ष है ? अब तो क्या, जब भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, तब हर्ष और आनन्द के स्थान पर, सर्वत्र दुःख, शोक और विषाद की काली छाया उपस्थित हो गई थी। जिसके फलस्वरूप सभी साधकों के अन्तर्मन अवसन्न हो गए थे। औरों की बात जाने दीजिए, चार ज्ञान चौदह-पूर्व के घर्षी महान् गणधर गौतम भी विषाद से अस्पर्शित नहीं रहे। उनकी तेजस्वी एवं निर्द्वन्द्व आंखों से भी शोकाश्रुओं का निर्भर फूट पड़ा। जैसा कि हमारे कथाकार कहते हैं—वे भद्र बच्चों की तरह पितृ-वियोग में कुछ देर तक विलख - विलख कर रोते रहे।

यदि निर्वाण महोत्सव का रूप होता, तो उन्हें हर्ष मनाना चाहिए था कि अच्छा हुआ कि भगवान् देह - बन्धन से मुक्त हो गए और निर्वाण को प्राप्त हो गए। किन्तु, ऐसा नहीं हुआ। वे बार-बार यही कहते रहे—“हन्त, महाप्रकाश चला गया। अब इस अन्धकार में हमें कौन प्रकाश देगा ? कौन हमारे संशयों का उच्छेदन करेगा ? कौन हमें शल्य-मुक्त करेगा ?” आप देख सकते हैं, यह प्रसन्नता का हर्ष नाद नहीं, अपितु विषाद का हा-हाकार है।

गणधर गौतम वे ही हैं, जो उत्तराध्ययन सूत्र के उल्लेखानुसार श्रावस्ती में श्री पार्श्वनाथ परम्परा के महान् आचार्य, किन्तु पार्श्वनाथ के निर्वाण से विषादग्रस्त श्री केशीकुमार श्रमण को बड़े हर्ष से कहते हैं—“अन्धकार की अब कोई चिन्ता नहीं है। श्री जिन - रूप - भास्कर का उदय हो चुका है। वह भास्कर विश्व में अन्धकार ग्रस्त जिज्ञासु प्राणियों के लिए सम्यक् - ज्ञान का प्रकाश करेगा।” आप देख सकते हैं कि कितने अधिक सात्त्विक हर्ष का निर्भर बह रहा है गौतम की वाणी में। यह हर्ष श्रमण भगवान्

महावीर के केवलज्ञान प्राप्त कर जिनत्व की स्थिति पर पहुंचने के हर्ष की ओर संकेत करते हैं । श्री केशीकुमार श्रमण कहते हैं—

अंधयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू ।

को करिस्सइ उज्जोयं ? सब्वलोगम्मि पाणिणं ॥

उत्तराध्ययन, २३, ७५

गणधर गौतम भटपट हर्षोल्लास की भाषा में कहते हैं—

उग्गओ विमलो भाणू, सब्वलोगपभंकरो ।

सो करिस्सइ उज्जोयं, सब्वलोगम्मि पाणिणं ॥

उग्गओ खीणसंसारो सब्वन्नु जिणभक्खरो ।

सो करिस्सइ उज्जोयं, सब्वलोगम्मि पाणिणं ॥

वही ७६ और ७८

अर्थ के अधिक विस्तार में जाने की अपेक्षा नहीं है । गाथाओं पर से ही मेरा प्रतिपाद्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है । यहाँ गणधर गौतम कितने आनन्द विभोर हैं । मैं मालूम करना चाहता हूँ— यह आनन्द भगवान् के निर्वाण के समय कहाँ चला गया था ? और क्यों चला गया था ? इसलिए चला गया था कि जो सातिशय प्रकाश अर्हत् - काल में मिलता था, वह अब निर्वाण होने पर नहीं मिलने वाला था । बस यही कारण है—गौतम के रुदन का । अतः स्पष्ट है कि निर्वाण तत्कालीन साधकों के लिए भी महोत्सव रूप नहीं, अपितु विषाद रूप था । सिद्धत्व साधक के लिए अजरामर रूप में उसकी अपनी व्यक्तिगत सिद्धि है, इसमें कोई दो मत नहीं । किन्तु, जन - हित की दृष्टि से देखा जाए, तो लोक - प्रदीप, लोक - प्रद्योतकर तीर्थकरों का निर्वाण अर्हत् - स्थिति की भाँति “लोक - हिताय तथाच लोक-कल्याणाय” नहीं है ।

अब मैं अपने मूल प्रतिपाद्य विषय पर आता हूँ । बीच के दो कल्याणक हैं—दीक्षा एवं केवलज्ञान । भले ही कोई मुझ से सहमत हो, या न हो । किन्तु, मुझे अपने व्यक्तिगत चिन्तन में उक्त दो कल्याणक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिभाषित होते हैं । प्रतिभासित क्या महत्त्वपूर्ण हैं ही । दीक्षा आत्म - शुद्धि के हेतु साधना के पथ पर अग्रसर होना है । मात्र आत्म - शुद्धि ही नहीं, दीक्षा के साथ

लोक-हित एवं लोक-कल्याण का भी सर्वमंगल सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। पूज्यपाद भदन्त भद्रबाहु स्वामी अपने सुप्रसिद्ध कल्पसूत्र में वर्णन करते हैं—“लोकान्तिक देव भगवान् से प्रव्रज्या अर्थात् दीक्षा ग्रहण करने के लिए देवलोक से आ कर प्रार्थना करते हैं— भगवन् लोकनाथ ! सम्पूर्ण जगत के समस्त प्राणियों के हित, सुख, एवं निश्चयेस के लिए अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिए—”

“भगवं लोगनाहा ! पवत्तेहि धम्मतित्थं परं ।

हियसुहं निस्सेयकरं सब्वलोए सब्वजीवाणं ॥”^१

उक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है, कि तीर्थंकरों की दीक्षा जहाँ एक ओर आत्म - शुद्धि की साधना है, वहाँ दूसरी ओर लोक-हित की साधना भी है। यह उभयमुखी ज्योति का पथ है। इससे स्पष्ट ही समाज - कल्याण का दिव्य स्वर अनुगूँजित है। अतः मैं दीक्षा कल्याणक को सादर नतशीष प्रणाम करता हूँ। क्या आज के दीक्षित होनेवाले महानुभाव दीक्षा के उक्त हेतुओं में से यथा-प्रसंग कुछ ग्रहण कर सकेंगे ?

दीक्षा के अनन्तर कल्याणक आता है—केवलज्ञान कल्याणक। यही मूल हेतु एवं लक्ष्य है—जैन - आचार का, जैन - साधना का। इसीलिए सर्व प्रथम “नमोसिद्धाणं” से पूर्व “नमो अरहंताणं” पद ध्वनित होता है, नमस्कार महामंत्र में। प्रणिपात सूत्र नमोत्थुणं में भी सर्वप्रथम अरहन्त ही स्मरणीय है—

“नमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं……।”

अन्यत्र अनेकानेक स्थलों में भी अर्हद् महिमा का मुक्तकंठ से गुणगान किया है। एक प्रकार से समग्र जैन - साहित्य अरहन्त महिमा से ही परिव्याप्त है। दशवैकालिक सूत्र के नवम् अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में स्पष्ट ही कहा गया है—जैन आचार का हेतु न इस लोक के लिए है, न परलोक के लिए और न यश-कीर्ति आदि

१. आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध के भावना अध्ययन की गाथा ६ में भगवान् के इसी सर्व जग - हितकारी भावना का उल्लेख किया है—

“एए देवनिकाया भगवं बोहिंति जिणवर वीरं ।

सब्वजगज्जीवहियं अरिह ! तित्थ पवन्ते हि ॥”

तीर्थंकरों के कल्याणक : एक समीक्षा :

१३७

के लिए है। इनमें से किसी से भी सम्बन्धित नहीं है—जैनाचार। उसका एक मात्र हेतु है—अरहन्त होना। सूत्र का मूल पाठ है—

“नो इहलोगद्वयाए आयारमहिद्वेज्जा, नो परलोगद्वयाए आयारमहिद्वेज्जा, नो कित्ति-वन्त-सद्-सिलोगद्वयाए आयारमहिद्वेज्जा, नन्तथ आरहन्तेहि हेउहि आयारमहिद्वेज्जा ॥”

उक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है—साधना का अन्तिम लक्ष्य अरहन्त है। अरहन्त होने के अनन्तर निर्वाण एवं सिद्धत्व प्राप्ति हेतु कोई साधना की हो, कहीं भी विदित नहीं है। निर्वाण तो अरहन्त होने पर समय पर स्वतः प्राप्त होनेवाला फल विशेष है। परिनिर्वाण देह से मुक्त होकर सदा - सर्वदा के लिए स्वयं का स्वयं में लीन हो जाना है। स्वयं एवं पर के लिए वहाँ कुछ भी करणीय जैसा नहीं रह जाता है। अतः मैं अन्य कल्याणकों को महत्त्व देता हुआ भी कह सकता हूँ—दीक्षा और केवलज्ञान (अर्हत्)—दोनों कल्याणक साध्य - साधना - भाव से परस्पर सम्बन्धित हैं। दीक्षा कल्याणक साधना है और अर्हत् (केवलज्ञान) साध्य है।

यह दीक्षा और केवलज्ञान, अन्य अर्हत्तों के भी पूज्य रूपण मान्य हैं। किन्तु, कल्याणक के रूप में ये तीर्थकरों के इसलिए सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं, कि तीर्थकरों का अर्हत्-भाव के साथ सर्वातिशायी पुण्य ऐसा होता है, जो विश्व-हित की दिशा में अनुपम है, अनुत्तर है, अद्वितीय है, उसकी तुलना कहीं अन्यत्र अन्य किसी से नहीं की जा सकती है। मैं इस पुण्यातिशय पर यथावकाश अन्य किसी लेख में प्रकाश डालना चाहता हूँ।

साधक दीक्षा के द्वारा अर्हत् हो जाता है। एक रूप से वह जीवन-मुक्त सिद्ध हो जाता है। इसलिए लोगस्स सूत्र के उपसंहार में अरहन्तों को सिद्ध पद से सम्बोधित करते हुए कहा गया है—

“वन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागर - वर - गंभीरा, सिद्धासिद्धिं मम दिसन्तु ॥”

अनुयोग द्वार सूत्र में भी अरहन्तों के लिए सिद्ध पद प्रयुक्त है। उक्त प्रसंग पर मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। वह यह कि आज के युग में हम जैन ‘जन्म और निर्वाण’ कल्याणक को तो

महत्त्व देते हैं, किन्तु दीक्षा और केवलज्ञान (अर्हत्) कल्याणक के प्रति कोई महिमान्वित कार्यक्रम उपस्थित नहीं करते हैं । साधारण जन - समाज में ये दोनों महत्त्वपूर्ण कल्याणक एक प्रकार से उपेक्षित हैं । क्या यह हमारी मानसिक स्थिति उचित है ?

वैदिक - परम्परा में तो जन्म - दिन को महत्त्व इसलिए प्राप्त है, कि वहाँ मूलतः मान्य महापुरुष को ईश्वरीय रूप में मान्यता प्राप्त है । वे मानव रूप में अवतरित होते हैं । इसलिए उन्हें अवतार कहते हैं । उनका समग्र जीवन ही एक लीलारूप है, साधना - रूप नहीं । अतः वहाँ साधना का कोई महत्त्व नहीं है । मात्र जन्म को ही हर्ष-उल्लास के साथ मनाया जाता है ।

अब रहा निर्वाण, उसके लिए तो वहाँ कोई उत्सव भी नहीं है । न ही निर्वाण की तिथि विशेष का कोई उल्लेख है । किन्तु, जैन - धर्म तो मूलतः साधना का धर्म है । वहाँ मूलतः कोई जन्म से ईश्वर नहीं होता है । साधना के द्वारा ही उत्तार रूप में सर्वोच्चता को प्राप्त होता है । अतः मैं दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक पर्व के प्रति कुछ अधिक ही आकृष्ट हूँ । अच्छा हो उक्त कल्याणकों को भी भक्तों द्वारा महिमामंडित किया जाए ।

वैशाख शुक्ल दशमी को भगवान् महावीर का केवलज्ञान कल्याणक दिन है । उस दिन ही वे साढा बारह वर्ष की सम्यक्-साधना के द्वारा ही अरहन्त, जिन एवं केवली हुए हैं । यह पर्व दिन किसी विशिष्ट महान् उच्चतर संकल्प का दिवस है । अतः यह मात्र एक दिन ही नहीं, पर्व है । आशा है, हम उक्त पर्व की पुण्य-स्मृति में कोई विशिष्ट पुण्य-संकल्प करें ।

जून १९८६



भगवान् महावीर, महावीर क्यों हैं ?

अध्यात्म चेतना के आचार्य नाम और रूप को जगत् अर्थात् संसार की सीमा में आबद्ध करते हैं। उनकी ओर से प्रचारित किया गया सुप्रसिद्ध सूत्र है— “नामरूपात्मकं जगत् ।” मेरी उक्त धारणा से कोई विमति नहीं है। फिर भी यह मानता हूँ, कि अपने-अपने स्थान पर नाम और रूप को एक विलक्षण महत्त्व प्राप्त है। उसे योंही नकारा नहीं जा सकता है। मैं यहाँ प्रस्तुत में रूप को एक ओर छोड़ देता हूँ, केवल नाम की ही चर्चा करता हूँ। कोई भी व्यक्ति हो या वस्तु, व्यवहार में उसका कोई - न - कोई नाम होता ही है। और कुछ - न - कुछ अच्छा - बुरा अर्थ बोध भी होता है। अज्ञात व्यक्ति या वस्तु के मिलते ही मन में सबसे प्रथम प्रश्न यही उठता है, कि यह क्या है, कौन है ? और, इसका क्या नाम है ? नाम की अज्ञातता के कारण कभी - कभी अति निकट के सम्बन्धित जन भी सामने खड़े हुए भी उपेक्षित हो जाते हैं। उपेक्षित ही नहीं, अवज्ञात एवं अपमानित भी हो जाते हैं। अतः नाम की महिमा महतो महीयान् है। यही हेतु है, कि भूतकाल के महान् दिव्य पुरुष अर्थात् दिव्यात्माएँ गणनातीत काल के व्यतीत हो जाने पर भी आज तक विस्मृत नहीं हुए। लाखों - करोड़ों भक्त आज भी उनके नाम का स्मरण करते हैं। उनके पवित्र नाम की मालाएँ जपते हैं। वैष्णव - परम्परा में तो नाम के स्मरण की भी एक विशिष्ट साधना ही है। प्रातः शय्या से उठते - उठते लाखों भक्त भगवान् के नाम का भक्ति - भाव से स्मरण करते हैं। कोई भी शुभ काम करना हो, तो सर्वप्रथम अपने आराध्य देव के नाम का स्मरण किया जाता है। नामों की स्थिति विचित्र है। नाम-करण संस्कार के समय कुछ नाम स्वयं ही समझ कर अथवा दूसरे

विज्ञपुरुषों से पूछ - ताछ कर अच्छे - से - अच्छे नाम रखे जाते हैं । उनकी पृष्ठभूमि में कोई - न - कोई (महत्त्वपूर्ण) अर्थ बोध भी होता है । और, कुछ नाम ऐसे भी होते हैं, जो यों ही रख दिए जाते हैं । अर्थ की दृष्टि से देखा जाए, तो कुछ भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता है । जाने दीजिए नाम की कथा लम्बी है । मैं यहाँ एक ऐतिहासिक नाम की चर्चा कर रहा हूँ । वह कितना अर्थ गम्भीर है, यह आप अग्रिम चर्चा पर से अच्छी तरह समझ सकेंगे ।

जैन-इतिहास परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं । मैं यहाँ उक्त नाम की ही अर्थवत्ता का यत्किंचित् उल्लेख करना चाहता हूँ । ऐसे तो भगवान् महावीर के अनेक नाम हैं । उन्हें सन्मति, ^१ महत्ति, वीर, महावीर तथा वर्द्धमान आदि अनेक पूजाहं नामों से सम्बोधित किया है । भगवान् महावीर के नामकरण संस्कार के समय राजा सिद्धार्थ द्वारा वर्द्धमान नाम रखा गया था । उक्त नाम की भी अर्थवत्ता एवं गुणवत्ता चतुर्दश पूर्वघर आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने कल्पसूत्र में अंकित की है । नामकरण करते हुए राजा सिद्धार्थ ने स्वयं कहा है—

“हे देवानुप्रिय ! जब यह बालक गर्भ में आया, तब हमारे मन में इस प्रकार का चिन्तन, विचार एवं संकल्प उत्पन्न हुआ कि जिस दिन से हमारा यह पुत्र गर्भ में आया है, उसी दिन से हमारी रजत - स्वर्ण में वृद्धि होने लगी है, प्रीति - सत्कार की दृष्टि से भी अभिवृद्धि होने लगी है तथा सामन्त एवं राजा भी हमारे वश में हुए हैं, अतः जब यह बालक जन्म लेगा, तब हम उसके गुणों के ही अनुरूप गुण-निष्पन्न नाम रखेंगे । आज हमारी मनोकामना सफल हुई है । अतः हम इस कुमार का नाम वर्द्धमान रखते हैं ।”^२

वर्द्धमान नाम के अनुसार ही सन्मति आदि नाम भी मात्र रूढ़ नाम नहीं है, अपितु व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति मूलक नाम हैं । भगवान् महावीर के चरित्र ग्रन्थों में अनेकशः उक्त नामों का उल्लेख हुआ है एवं संस्कृत तथा हिन्दी टीकाकारों ने उक्त नामों की महत्त्व द्योतक व्युत्पत्तियाँ की हैं । किन्तु, मैं यहाँ ग्रन्थाभाव के कारण विस्तार में जाने की स्थिति में नहीं हूँ । जैसा कि मैंने पहले संकेत किया है—मेरा चिन्तन महावीर नाम पर ही केन्द्रित है ।

भगवान् महावीर, महावीर क्यों हैं ? :

१४१

प्राचीन आगम - साहित्य में अनेकत्र 'समणे भगवं महावीरे' इत्यादि पवित्र शब्दों में 'महावीर' नाम का उल्लेख है। आगमोत्तर कालीन प्राकृत और संस्कृत - साहित्य में भी महावीर नाम ही अधिकतर प्रयुक्त हुआ है। सर्व साधारण जनता में भी महावीर नाम ही सुविख्यात है। उक्त नाम इतना लोकप्रिय हो चुका है कि बौद्ध धर्म की महायान परम्परा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सद्धर्म पुण्डरीक में भी तथागत भगवान् बुद्ध को भी महावीर नाम से अभिहित किया गया है। अतः स्पष्ट है कि अन्य नामों की अपेक्षा महावीर नाम सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था।

प्रश्न है, महावीर शब्द प्रारम्भ में किस दृष्टि से और किन लोगों के द्वारा प्रचलित हुआ? एतदर्थ हम पुनः चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की शरण में पहुँचते हैं। उनके द्वारा संरचित कल्प-सूत्र, हमें इस सम्बन्ध में स्पष्ट सूचना देता है— "भय - भैरव के उत्पन्न होने पर भी अचल रहने वाले, परीषह और उपसर्गों को शान्ति एवं क्षमा से सहन करने में सक्षम, प्रिय और अप्रिय प्रसंगों में समभावी, संयम - युक्त और अतुल पराक्रमी होने के कारण देवताओं ने 'श्रमण भगवान् महावीर' नाम रखा।³ उपर्युक्त उल्लेख पर से स्पष्ट हो जाता है कि महावीर नाम कोई साधारण नाम नहीं है, लोमहर्षक भयंकर परीषहों एवं उपसर्गों को महावीर ने अपने साधना - काल में अत्यन्त समभाव से सहन किया, जरा भी विचलित नहीं हुए— 'मेरुववायेण अकंपमाणो।' जैसे मेरु पर्वत उग्र भ्रंभावातों से भी सर्वथा अकंपित रहता है, उसी प्रकार महावीर भी उपसर्गों के भ्रंभावातों में अविचल एवं अकंप रहे हैं। अतएव दिव्य दृष्टि देवों ने तथा साथ ही तत्कालीन प्रसिद्ध वीरों ने उन्हें महावीर नाम से सम्बोधित किया। यह नामकरण आजकल की तरह यों ही इधर - उधर से नहीं प्राप्त कर लिया गया है, अपितु अपने अप्रतिम धैर्य, सत्साहस, एवं अविचल साधनानिष्ठता के बल पर भक्त - भाव से भक्त देवों द्वारा प्राप्त हुआ है। यही हेतु है कि उक्त नाम की सहस्राधिक वर्षों से परम्परागत अक्षत ख्याति चली आ रही है।

यही भाव शब्दशः अंग-साहित्य में प्रथम अंग स्थानीय आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंधक में भी समोपलब्ध है।

यहाँ हम अधिक विस्तार में तो नहीं जाएँगे, किन्तु साधना-काल में वे कितने अविचल महान् साधक रहे हैं—कुछ संकेत रूप में संक्षिप्त उल्लेख कर देना उपयुक्त समझते हैं। कल्पसूत्र में साधना - काल से सम्बन्धित भगवान् महावीर के प्रति उपयुक्त अनेक उपमाओं की एक लम्बी शृंखला है। उसमें प्रायः सभी शब्द महावीर की अविचल दृढ़ता एवं धीरता का उद्घोष करते हैं—

कांस्य पात्र की तरह निर्लेप : जैसे कि कांस्य के पात्र पर जल-बिन्दु की आर्द्रता नहीं रहती है, उसी प्रकार भगवान् महावीर की चेतना पर राग-द्वेष मूलक किसी भी अनुकूल - प्रतिकूल घटनाओं का कोई प्रभाव अर्थात् लेप नहीं रहता था।

शंख के समान निरंजन : जिस प्रकार शंख श्वेत होता है, उस पर कोई रंग नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् भी निरंजन एवं निर्विकार रहे हैं।

जीव के समान अप्रतिहत गति के धारक : जिस प्रकार आत्मा की गति का कोई अवरोधक नहीं हो सकता, उसी प्रकार भगवान् महावीर भी अवरोध - मुक्त गतिशील रहे हैं।

आकाश के समान निरवलम्ब : जिस प्रकार आकाश को स्थिर रहने के लिए किसी आधार की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार महावीर भी किसी भी स्थिति में किसी भी सहायक एवं आधार की अपेक्षा नहीं रखते थे।

वायु के समान अप्रतिबद्ध : जैसे वायु को किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता नहीं है, वैसे महावीर अप्रतिबद्ध विहारी रहे हैं।

शरद् ऋतु के जल के समान निर्मल, मल रहित विशुद्ध, कमल-पत्र के समान निर्लिप्त, कच्छप के समान गुप्तेन्द्रिय, गेंडे के सुप्रसिद्ध एक शृंग के समान एकाकी अर्थात् अन्य किसी की सहायकता से मुक्त पक्षियों के समान स्वतन्त्र, भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त रहे हैं।

हाथी के समान शौण्डीर : अर्थात् युद्ध में भयंकर वाण-वर्षा में भी शौर्य धारक। आगम - साहित्य में इसी भाव को 'संगमसीसे इव नागराया' जैसे वीरतापूर्ण शब्दों में अभिव्यक्त किया है। भगवान्

भगवान् महावीर, महावीर क्यों है ? :

१४३

महावीर उपसर्गों के भयंकर युद्ध में कभी एक कदम भी पीछे न हटने वाले गंध - हस्ती के समान अग्रवीर रहे हैं ।

वृषभ के समान पराक्रमी : जिस प्रकार महान् वृषभ अपने पूरे पराक्रम के साथ रथ आदि के भार को वहन करता है, फलतः धुरन्धर का गौरव पद प्राप्त करता है, उसी प्रकार भगवान् महावीर भी तप - त्याग आदि साधना के भार को एवं भयंकर उपसर्गों को प्रसन्नता से वहन करने वाले महान् पराक्रमी वीर रहे हैं ।

सिंह के समान दुर्धर्षि : जैसे वन का राजा सिंह भीषण वन में निर्भय विचरण करता है, भयभीत होकर इधर - उधर या वापिस भागने का प्रयत्न नहीं करता है, उसी प्रकार महावीर भी साधारण उपसर्ग तो क्या, अपितु देव - दानवों द्वारा किए गए भयंकर उपसर्गों से भी सर्वथा भय - मुक्त रहे हैं । उन्होंने भयाकुल होकर कभी अपना साधना - पथ नहीं बदला ।

मेरु के समान निष्कंप : पर्वतराज मेरु प्रलय के युग में भी निष्कंप रहता है । भगवान् महावीर की निष्कंपता भी इसी भाँति परमोत्तम कोटि की है ।

समुद्र सम गम्भीर : जिस प्रकार जलाशयों में समुद्र की गम्भीरता प्रसिद्ध है—हजारों - हजार नदियों का प्रतिक्षण जल प्रवाह पाकर भी वह मर्यादाहीन नहीं होता है, इसी प्रकार भगवान् महावीर भी मान - अपमान आदि के भीषण प्रवाहों में कदापि मर्यादाहीन अर्थात् क्षुद्र नहीं हुए ।

किं अधिकम् भगवान् चन्द्र के समान सौम्य, सूर्य के समान तेजस्वी, परीक्षित उत्तम स्वर्ण के समान कान्तिमान सौन्दर्य के धारक, पृथ्वी की तरह समस्त स्पर्शों को सहन करने वाले सर्वसह अर्थात् क्षमाशील और यथोचित घृतादि की आहुति प्राप्त अग्नि के समान प्रदीप्त थे महाप्रभु महावीर ! अर्थात् उनकी दीप्तिमत्ता भीषण उपसर्गों में भी क्षीण नहीं हुई ।^४

उपर्युक्त ये उपमाएँ हैं, जो भद्रवाहु स्वामी ने शब्द - बद्ध की है । आखिर भद्रवाहु की भी एक सीमा है । लहराते गर्जते सागर को एक सीमित घट में भर लेना जैसे असंभव है, वैसे ही महावीर

के गुण-समुद्र को बड़े - से - बड़े शब्द-घट में भर लेना सम्भव नहीं है। यह तो मात्र संकेत हैं, जिन पर से भगवान् की महिमा एवं गरिमा की एक भांकी ही प्रदर्शित की गई है। उक्त भांकी पर से महावीर का महावीरत्व थोड़ा - बहुत तो समझा जा सकता है। बहुत क्या, थोड़ा - से - थोड़ा ही, अल्प - से - अल्पतर एवं अल्पतम ही, इधर - उधर भांकर देखा जा सकता है।

लेख लम्बा हो रहा है, फिर भी आचारांग के वर्णन की भी एक संक्षिप्त भांकी प्रस्तुत करने का भक्ति - प्रवण मन हो रहा है।

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के नवम अध्यायन से सम्बन्धित तृतीय उद्देशक में भगवान् महावीर द्वारा लाढ़ आदि अनार्य देश में विचरण करने की चर्चा है। यह अनार्य देश यों ही विहार करते हुए कहीं बीच में आ गया हो, और वहाँ विचरण की अनिवार्यता हो गई हो, ऐसी बात भो नहीं है। भगवान् ही अपनी आध्यात्मिक शक्ति एवं सात्त्विक-वृत्ति आदि का परीक्षण करने हेतु, जान-बूझकर स्वयं अनार्य देश में गए हैं। परिचित स्थानों में यह परीक्षण प्रायः असंभव होता है। विषम स्थिति में पहुँचने पर ही पता लगता है, व्यक्ति स्वयं में कितना धीर, वीर, गम्भीर एवं शूर है।

महावीर, महावीर इसलिए हैं कि वे स्वतः ही आए हुए कष्टों को भेलते हुए भी कभी - कभी स्वयं भी कष्टों को निमन्त्रण देते रहे हैं। कष्टों के जलते हुए दावानल में स्वयं भी सहर्ष प्रवेश करते रहे हैं। अनार्य देश का विहार—जो बाद में साधु - संघ के लिए निषिद्ध हो गया था, भगवान् स्वयं वहाँ पहुँचते हैं और भयंकर कष्टों में भी उनका मुख कमल कभी भी म्लान नहीं होता है।

आचारांग में सुधर्मा स्वामी कहते हैं—अनार्य देश में भगवान् का अत्यन्त घोर एवं भयंकर उपसर्गों का सामना हुआ। अनार्य लोग उन पर धूल फेंकते थे, उन्हें डंडों एवं पत्थरों से मारते थे, कुछ लोग उन पर शिकारी कुत्ते छोड़ देते थे और वे भगवान् के शरीर का मांस नोंच लेते थे। अनार्य जन उन्हें अपने गाँव में प्रवेश करने नहीं देते थे, अपितु उन्हें धक्का मार कर भूमि पर गिरा देते थे। बड़ा ही भीषण वृत्त है, प्रस्तुत अनार्य देश की

भगवान् महावीर, महावीर क्यों हैं ? :

१४५

विहार - यात्रा का । अन्य अनेक भिक्षु अपना बचाव करने के लिए हाथों में लम्बे - लम्बे डंडे रखते थे । अन्य भी रक्षा के अनेक उपाय किया करते थे । किन्तु, महावीर निर्द्वन्द्व-भाव से खुले हाथों विचरण किया करते थे । अपनी रक्षा के लिए वे किसी भी साधन का उपयोग नहीं किया करते थे । महावीर को साधन की भी कोई अपेक्षा नहीं थी । पीड़ा देने वालों को दण्डित करने हेतु उनका एक साधारण - सा मुष्टि प्रहार ही पर्याप्त था । उनका शरीर वज्र संहनन का था । उनके समक्ष ये सब लोग साधारण कीड़े -मकोड़े से भी बदतर थे । परन्तु, महावीर का लक्ष्य ही कुछ और था । वे राग - द्वेष से सर्वथा विमुक्ति - यात्रा के अपराजित पथिक थे । उन्हें बीच के किसी भी तरह के विकल्पों में उलझना नहीं था । अतः उनके लिए कहा गया है— “वे संग्राम में अपराजित गजराज की तरह तथाकथित भयंकर घृणा, अपमान, तिरस्कार एवं दण्ड - प्रहार आदि के उपसर्ग - युद्ध में अबाध गति से अग्रसर होते गए ।” आज की भाषा में कहा जाए, तो वे सन्त कबीर की प्रस्तुत शब्दावली पर पूर्ण रूप से खरे उतरते हैं—

“हाथी चलत है अपनी गति से :
कुतर भूसत वाको भूसवा दे ॥”

महावीर तो कबीर के हाथी से भी कहीं अधिक अप्रमेय हस्ती हैं । यहाँ कुत्तों के भौंकने की बात नहीं है, अपितु कुत्तों के काटने और मांस नोचने तक की कंपित करने वाली बात है । अस्तु, महावीर, महावीर क्यों है ? मूल आचारांग इसका प्रमाण-त्वेन साक्षी है ।

भगवान् महावीर के प्राकृत एवं संस्कृत आदि भाषाओं में अन्य भी अनेक जीवन-चरित्र लिखे गए हैं, उनमें उपसर्गों की एवं भगवान् द्वारा उपसर्गों को सहर्ष सहन करने की, क्षमता के अद्भुत वर्णन आज भी उपलब्ध हैं ।

नागराज चण्डकौशिक की कथा प्रसिद्ध है । यह वह भयंकर विषधर नाग है, जिसने वनवासी तापसों के आश्रम उजाड़ दिए थे । वह दृष्टि - विष सर्प था । उसकी फूँकार में ही नहीं, दृष्टि में भी विष बरसता था । इसलिए वहाँ का वातावरण सब - का -

सब विषाक्त हो गया था। उस ओर बहने वाली हवा भी इतनी विषाक्त हो जाती थी कि कोई भी पशु - पक्षी या मनुष्य भूल से उधर आ निकलता, तो वहीं तत्काल मृत्यु के मुख में पहुँच जाता। विशाल वन के हरे - भरे वृक्ष भयंकर विष के कुप्रभाव से जलकर झूठ हो गए थे और अनेक झूठ होते जा रहे थे।

यह नहीं, कि इस विषधर को वश में करने या समाप्त करने में कोई कोर - कसर रखी गई। अनेक मांत्रिक, तांत्रिक, गाहडि और सिद्ध - योगी विषधर को समाप्त करने की हुंकार भरी गर्जना करते आए और प्रयोग करते रहे। कुछ ने तो इस प्रक्रिया में अपने प्राण भी दे दिए। फिर भी किसी से कुछ भी नहीं हुआ।

भगवान् महावीर साधना - काल की विहार-चर्या में उस पथ से जा रहे थे। शताधिक आवाल - वृद्ध लोगों ने उन्हें उस ओर जाने से मना किया। किन्तु महावीर, महावीर थे। उनके अन्तर् मन का महावीर क्या सोच रहा था, और वह क्या करना चाहता था? यह तो तब पता चला, जब वे सीधे नागराज चण्डकौशिक के बिम्ब - द्वार पर ही पहुँच गए। चण्डकौशिक की विष - दृष्टि एवं विष - वर्षी फुंकार कुछ काम न कर सकी। यहाँ तक कि अन्तिम प्रहार के रूप में किया गया तीव्र दंश भी विफल हो गया। चण्डकौशिक ज्योंही शिथिल पड़ा, त्योंही भगवान् ने अपनी अमृत-मयी दयाद्रो-वाणी से उसे सम्बोधित किया। अन्ततः परिणाम यह आया, कि चण्डकौशिक सर्प केवल शरीर से ही सर्प रह गया, अन्दर में मन, बुद्धि, चित्त, अहं से वह देवत्व को उपलब्ध हो गया। अन्तश्चेतना का अंधकार विकारों का अंधकार है। किसी महान् सद्गुरु के सम्बोध से ज्यों ही वह अंधकार नष्ट होता है, त्यों ही दिव्य - प्रकाश जग - मगाने लगता है। यही देवत्व है। इसीके सम्बन्ध में भारत के पुरातन ऋषियों की वाणी है—

“प्रकाश लक्षणा देवाः।”

आप इतिहास की आँख से देखेंगे, तो जनता के मन में हर्ष और आनन्द का क्षीर - सागर कितना अधिक तरंगित होने लगा होगा? अभी तक उक्त प्रदेश में यह अज्ञात नामा महर्षि अवश्य ही ईश्वरीय चमत्कार की परिकल्पनाओं में पहुँच गया होगा।

भगवान् महावीर, महावीर क्यों हैं? :

१४७

जनता उक्त दिव्य चमत्कार को देखते और सुनते ही, महर्षि के दर्शनों को उमड़ पड़ी, किन्तु महावीर थे बिना किसी इधर - उधर के यश बटोरने की भावना से सर्वथा मुक्त। अतः चण्डकौशिक के प्रतिबुद्धित होते ही वे शीघ्र ही आगे बढ़ गए। जनता की भाषा में सहसा अन्तर्धान हो गए।

एक और कथा प्रसंग है। कौशम्बी के वत्सराज शतानिक सहसा परलोकवासी हो गए हैं। उनका पुत्र उदयन अभी तक लघुवयस्क बालक ही है। पूर्व की सम्राज्ञी राजरानी एवं वर्तमान की राजमाता शोक से अवसन्न है। इसी बीच अवन्ती का कामान्ध चण्डप्रद्योत रूपवती नारियों में सुप्रसिद्ध व सर्वमुख प्रशंसित रमणी मृगावती को अपनी पत्नी बनाने का विचार करता है। प्रेम और प्रलोभन के माया-पास जब काम न आ सके, तो अपहरण के लिए एक महती विराट् सेना लेकर आक्रमण कर देता है और कौसाम्बी के महाप्राकार को चारों ओर से घेर लेता है। वत्स देश की सेना पहले के ही अनेक युद्धों में क्षत - विभ्रत हो चुकी थी। उसे संभलने एवं संवरने का अवसर नहीं मिला था। अतः महारानी के लिए अपनी नगण्य सेना को लेकर दुर्ग के रूप में सुदृढ़ प्राकार के अन्दर बन्द हो जाने के सिवा अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रहा।

यह घेरा महीनों पड़ा रहा। धीरे - धीरे शस्त्रास्त्रों एवं सेना की क्षीणता ही नहीं हुई, अपितु नगर की जनता में भी खाद्यान्न के अभाव में हा-हाकार मच गया। किन्तु, महारानी मृगावती अपने सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणों के अन्तिम सांस तक भूझने के लिए तैयार थी, और वह अन्तिम विनाश के दृश्य को आँखों के समक्ष देखती हुई भी महाकाल के समक्ष वीरता के साथ भूझती रही। उक्त भयंकर युद्ध एवं उसके हेतु की चर्चा दूर - दूर तक फैल चुकी थी। अनेक धर्माचार्य धर्म की ध्वजा फेराते हुए इधर - उधर भ्रमण कर रहे थे, किन्तु इतिहास का वह खेद का काला पृष्ठ है कि कोई भी धर्म गुरु इस समय कौसाम्बी तो क्या, कौसाम्बी के आस - पास भी नहीं आए।

किन्तु महावीर, महावीर हैं, विलक्षण महावीर हैं। वे अपने आवाल - वृद्ध बहुसंख्यक श्रमण एवं श्रमणियों के संघ के साथ में

कौसाम्बी के बाहर उद्यान में पधार जाते हैं। भला दया के अप्रतिम देवता, ऐसी भयंकर स्थिति में चुपचाप किसी कोने में कैसे बैठे रह सकते थे ? भगवान् महावीर पधारें, और चमत्कार हो गया। चण्डप्रद्योत को बोध मिला। प्राचीर के द्वार खुल गए। महारानी मृगावती और सर्व साधारण जनता समुद्र की भाँति महाप्रभु के दर्शनार्थ उमड़ पड़ी। चण्डप्रद्योत, लघु वयस्क राजकुमार उदयन एवं कौसम्बी की सुरक्षा का भार एवं दायित्व सहर्ष अपने ऊपर ले लेता है तथा महारानी मृगावती जिनेन्द्र महावीर के श्रीचरणों में दीक्षित हो कर साध्वी संघ की प्रमुख आर्य चन्दना की सेवा में धर्म - साधना करने में संलग्न हो जाती है।

यह घटना साधारण नहीं है। इसे जितना भी असाधारण कहा जाए, उतना ही कम है। जब की आज का उपलब्ध आगम दशवैकालिक उद्घोष कर रहा है—साधु को जहाँ कलह और युद्ध हो रहा हो, उस स्थान का दूर से परित्याग कर देना चाहिए—

“कलहं युद्धं दूरतो परिव्रज्ये ॥”—५, १, १२.

महावीर, यह सब जानते थे, किन्तु उनकी विहारचर्या मात्र शास्त्र - शब्दानुबद्ध अनुगत नहीं थी, जो शास्त्रों के पीछे - पीछे चले। उनकी विहार - चर्या देशकालोचित निर्धारित थी। देश-काल के अनुरूप जो उचित समझा, बिना किसी ननु - नच के वही किया महावीर ने। तभी तो अहिंसा के सम्बन्ध में 'अहिंसा परमो-धर्मः' मात्र एक शाब्दिक नारा नहीं था महावीर के पास, अपितु जीवन के कण - कण में अमृत - रस की तरह आप्लावित अहिंसा, एक वह दिव्य भाव धारा थी, जो हिंसा की हर चुनौती का साकार उत्तर देने के लिए प्रस्तुत थी।

आइए अब हम मगध देश की राजधानी राजगृह चलें। अर्जुन मालाकार कोपाविष्ट है, यक्षाविष्ट है। उसके पास मनुष्य का एक आकार है, अन्य सब - कुछ राक्षस के रूप में परिवर्तित हो गया है। मृत्यु का यह यमदूत निर्दोष आबाल - वृद्ध, स्त्री और पुरुष, गृहस्थ और संन्यासी, सभी को अपने मुद्गर का शिकार बनाता है और इधर - उधर लाशों का ढेर लगाता हुआ भीषण अट्टहास करता है। मगध-सम्राट् की सेना उसके सामने कुछ नहीं

भगवान् महावीर, महावीर क्यों हैं ? :

१४६

कर पाती है। नगर के द्वार बन्द कर दिए हैं। तापसों के आश्रम उजड़ गए हैं। बड़े - बड़े धुरन्धर चमत्कारी कहे जाने वाले सिद्ध-योगी कुछ मारे गए हैं और शेष दूराति दूर स्थानों में भाग गए हैं। भयानक स्थिति है। स्वर्गोपम राजगृह का वैभव शव भूमि के रूप में परिवर्तित होता जा रहा है। समग्र नगरी में से गगन को भी प्रकंपित करने वाली एकमात्र रुदन की आवाज के सिवा और कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ती है। हम यहाँ पर भी किसी धर्म गुरु को इन दिनों में शान्ति स्थापना हेतु आते नहीं देख पाते हैं। परन्तु, महावीर आते हैं, अपने संघ के साथ। अर्जुन को प्रतिबोध मिलता है। उसके अन्दर का राक्षसत्व मर जाता है, और सोया हुआ देवत्व जाग उठता है। महाप्रभु के चरणों में दीक्षित हो जाता है। यह दीक्षा केवल किसी विविष्ट क्रिया - काण्ड की नहीं है, अपितु जीवन - परिवर्तन की दीक्षा है। महावीर इस जीवन-परिवर्तन की दीक्षा में ही विश्वास करते हैं और उसे घृणित एवं तिरस्कृत व्यक्तियों के जीवन में भी दिव्यत्वेन रूपायित करते हैं।

ये कुछ उदाहरण हैं, जो महावीरत्व की एक भांकी के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। महावीरत्व की द्योतक इतिहास की अनेक घटित घटनाओं में से कुछ तो अक्षर-बद्ध ही नहीं हुई हैं और कुछ जो अक्षरबद्ध हुई हैं, वे प्रमत्त - भाव के कारण स्मृति - पथ पर से इधर - उधर बिखर गई होंगी। फिर भी जो प्राप्त हैं, वे महत्त्व-पूर्ण हैं। महावीर, सत्य के पक्षधर हैं। वे किसी की भक्ति के प्रदर्शित रूपों में आवद्ध नहीं होते, फलतः सत्य का अपलाप नहीं करते। यही वह सत्य की पक्षधरता थी, कि अजातशत्रु और चेटक के युद्ध में भगवान् महावीर ने अजातशत्रु की राजधानी चम्पा में अजातशत्रु द्वारा प्रवर्तित किए गए युद्ध का विरोध किया। असाधारण महापुरुष ही ऐसा कर सकते हैं। ऐसे महापुरुषों के लिए ही कहा गया था कभी—

“नास्ति सत्यात् परो धर्मः.....”

सत्ये नास्ति भयं वक्चित्.....”

स्वयं श्रमण भगवान् महावीर ने भी कहा था—

“सच्चमि धिहे कुव्वाह”

यह तो कुछ बाह्य घटनाएँ हैं। अन्तर्-जीवन का वीरत्व भी महावीर का अद्भुत है। महावीर राज्य वैभव, सुन्दर पत्नी एवं प्रियजनों का परित्याग करते हैं। कब करते हैं? तीस वर्ष की उत्तेजक तरुणाई के काल में। इस अवस्था में अधिकतर मानव अन्धे होकर अन्ध-गर्त में गिरते हैं, निकलते नहीं हैं। किन्तु, महावीर निकलते हैं और वैराग्य के अग्नि-पथ पर पुष्प-पथ की भाँति चल पड़ते हैं। उनकी अन्तश्चेतना में न इस लोक के किसी सुख का विकल्प है और न परलोक के किसी भौतिक सुख का। लोक और परलोक के दोनों विकल्पों से परे हट कर चले हैं महावीर। उनकी साधना की सिद्धि का एक ही चमत्कृत कर देने वाला लक्ष्य है, अपने शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि—

“ सिद्धि स्वात्मोपलब्धि ”

बड़े - बड़े सहस्र योद्धा क्या, कोटि भट्ट कहे जाने वाले वीर भी अन्दर में इतने दुर्बल होते हैं कि भोगासक्ति का एक अणुमात्र कोना भी ध्वस्त नहीं कर पाते हैं। मन के इतने बड़े भिखारी होते हैं, कि भिक्षा - पात्र में से एक सड़ा हुआ कण भी बाहर नहीं फेंक पाते हैं। किन्तु, महावीर जैसे विरल ही वीर चैतन्य होते हैं, जो कुछ ही क्षणों में सर्वस्व का परित्याग कर देते हैं और पीछे मुड़ कर कभी देखते भी नहीं, कि क्या हो रहा है ?

लेख को उपसंहार तो नहीं दे पा रहा है, मात्र विश्राम दे रहा है— समयभाव के कारण। मैं भक्तिरस से आप्लावित अपने अन्तर्मन से इस विराट् महावीर को अनन्तशः प्रणाम करता हुआ भावना करता हूँ—

“ महावीर स्वामि नयन पथगामी भवतु मे ”

☆

☆

☆

संदर्भ

1. सन्मतिर्महतिवीरो, महावीरोऽन्यकाश्यपः ।
नाथान्वयोवद्धमानो यत्तीर्थनीह साम्प्रतम् ॥

—धनञ्जय नाममाला

भगवान् महावीर, महावीर क्यों हैं ? :

१५१

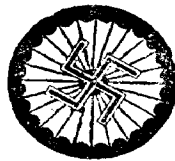
२. पुत्रिं पि य णं देवाणुप्पिया ! अम्हं एयंसि दारगंसि गब्भं वक्कंतंसि (समाणंसि) इमे एयारूवे अब्भत्थिए चितिए जाव समुप्पज्जित्था-जप्पभिइं च णं अम्हं एस दारए कुञ्छिसि गब्भत्ताए वक्कते, तप्पभिइं च णं अम्हे हिरण्णेणं वड्ढामो सुवण्णेण वड्ढामो जाव सावएज्जेणं पीतिसक्कारेणं अतीव २. अभिवड्ढामो, सामंतरायाणो वसमागया य । तं जया णं—अम्हं एस दारए जाए भविस्सति, तथा णं अम्हे एयस्स दारगस्स इमं एयाणुरूवं गोणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करिस्सामो वड्ढमाणो त्ति, ता अज्ज णं अम्हं मणोरहसंपत्ती जाया, तं होउ णं अम्हं कुमारे वड्ढमाणे २ नामेणं । तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो नामधिज्जं करंति 'वड्ढमाणो' त्ति ।

—कल्पसूत्र, १०३.

३. समणे भगवं महावीरे कासवगोत्ते णं, तस्स णं तओ नामधिज्जा एवमाहिज्जन्ति, तंजहा—अम्मापिउ संतिए वड्ढमाणे, सहसम्मुइयाए समणे, अयले भयभेरवाणं परीसहोवसग्गाणं खंतिखमे (पडिमाणं पालगे) धीमं अरतिरतिसहे दविए वीरियसंपन्ने देवेहि से णामं कयं "समणे भगवं महावीरे ।" वही १०४.

४. कंसपाई इव मुक्कतोए, संखो इव निरंजणे, जीवो इव अप्पडिह्यगई, गगणं इव निरालंबणे, वाउरिव अप्पडिबद्धे सारदसलिलं इव सुद्धहियए, पुक्खरपत्तं इव निरुवलेवे, कुम्मो इव गुत्तिदिए, खग्गिवासाणं इव एगजाए, विहग इव विप्पमुक्के, भारंडपक्खी इव अप्पमत्ते, कुंजरो इव सोंडीरे, वसभो इव जायथामे, सीहो इव दुद्धरिसे, मंदरो इव अप्पकप्पे, सागरो इव गंभीरें, चंदो इव सोमलेसे, सूरु इव दित्ततेए, जच्चकणगं इव जायरूवे, वसुंधरा इव सब्बफासविसहे, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंते ।

—वही ११७.



“

आप जीवन के,
चाहे जिस किसी क्षेत्र में रम रहे हों,
भले ही वह क्षेत्र,
श्रमण का हो, श्रमणी का हो, श्रावक या
श्राविका का हो ।
किन्तु सबके बीच संयम का होना एक
अपरिहार्य तत्त्व है ।
संयम के बिना जीवन संतुलित नहीं रहता
और संतुलन के बिना
मुनियोजित रूप से गति-प्रगति कदापि
नहीं हो सकती है ।
और याद रखिए गति में ही जीवन है ।
गति के अभाव में,
जीवन, जीवंत रह ही नहीं जाएगा,
वह तो जीवन विहीन,
सिर्फ चलती-फिरती लाश रह जाएगी ।
अतः संयम ही जीवन है ।

— उपाध्याय अमर मुनि

”